पतझर में टूटी पत्तियाँ

रवीन्द्र केलेकर

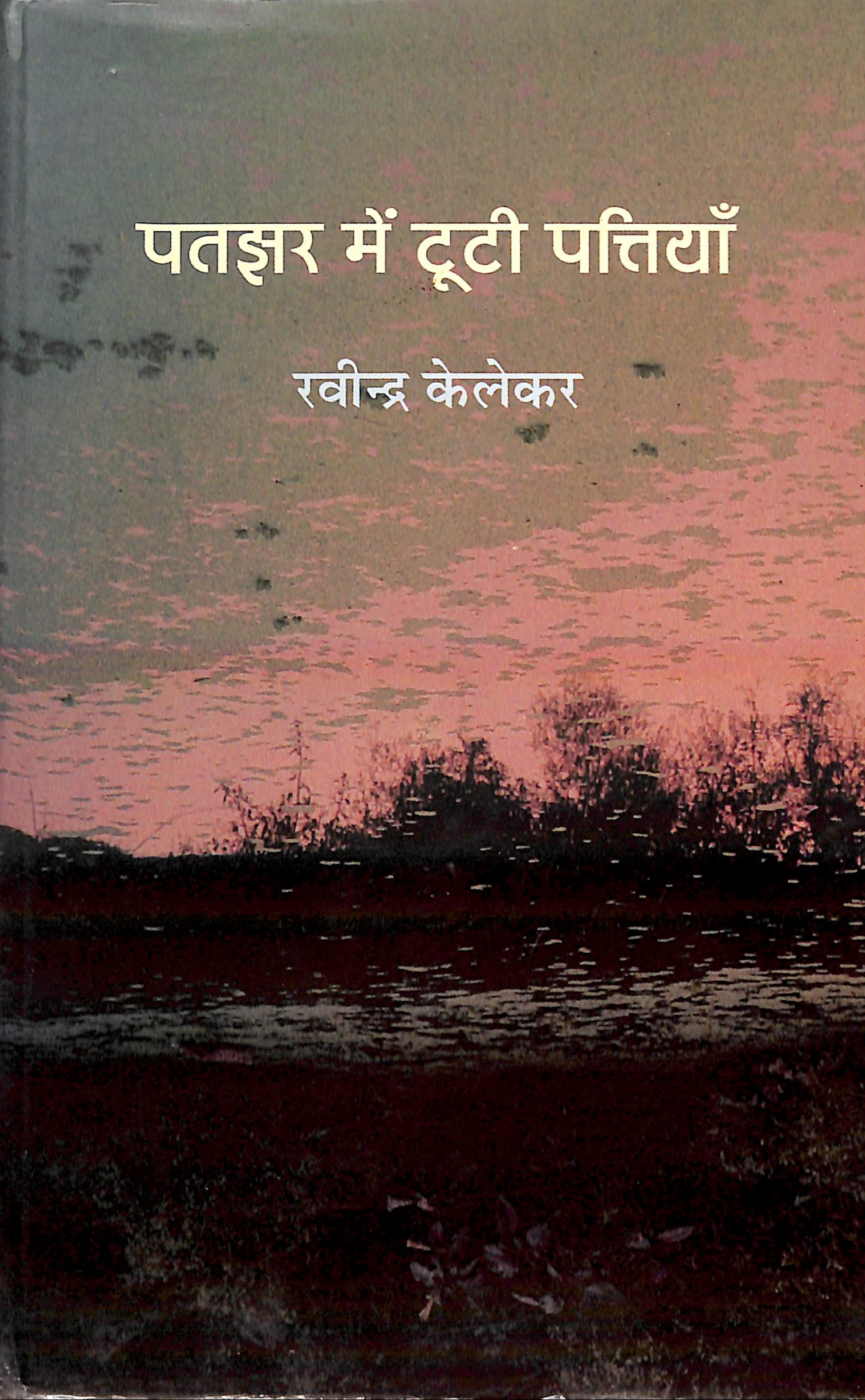

पतझर में टूटी पत्तियाँ

गाँधीवादी विचारक, कोंकणी एवं मराठी के शीर्षस्थ लेखक और पत्रकार रवीन्द्र केलेकर के प्रेरक प्रसंगों का अद्‌भुत संकलन है 'पतझर में टूटी पत्तियाँ'। केलेकर का सम्पूर्ण साहित्य संघर्षशील चेतना से ओतप्रोत है।

'पतझर में टूटी पत्तियाँ' में लेखक ने निजी जीवन की कथा-व्यथा न लिखकर जन-जीवन के विविध पक्षों, मान्यताओं और व्यक्तिगत विचारों को देश और समाज के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। अनुभवजन्य टिप्पणियों में अपने चिन्तन की मौलिकता के साथ ही, इनमें विविध प्रेरक प्रसंगों के माध्यम से मानवीय सत्य तक पहुँचने की सहज चेष्टा है। इस दृष्टि से देखा जाए तो यह कृति अपने पाठकों के लिए मात्र पढ़ने-गुनने की नहीं, एक जागरूक एवं सक्रिय नागरिक बनने की प्रेरणा देती है।

ये आलेख कोंकणी में प्रकाशित केलेकर की कृति 'ओथांबे' से चुनकर अनूदित किये गये हैं। अनुवाद किया है माधवी सरदेसाई ने, जो गोवा विश्वविद्यालय के कोंकणी विभाग में भाषा-विज्ञान की वरिष्ठ अध्यापिका हैं।

यह महत्त्वपूर्ण कृति हिन्दी पाठकों को समर्पित करते हुए भारतीय ज्ञानपीठ को प्रसन्नता है।

पतझर में टूटी पत्तियाँ

(चिन्तनपरक प्रसंग)

पतझर में टूटी पत्तियाँ

रवीन्द्र केलेकर

अनुवाद

माधवी सरदेसाई

भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 81 - 263 - 1135 - 5

राष्ट्रभारती
लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 795

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

आवरण-चित्र : माधव भान
आवरण : चन्द्रकान्त शर्मा

पहला संस्करण : 2005
मूल्य : 75 रुपये

© श्री रवीन्द्र केलेकर

PATJHAR MEIN TOOTEE PATTIYAN
(Reflective Contexts)
by Ravindra Kelekar

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 2005
Price : Rs. 75

जिनके चरणों में बैठकर
तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' का
अध्ययन करने का सौभाग्य मिला था, उन
मेरे बुजुर्ग स्नेही—
मरहूम अहमद 'अबोध' जी की
पावन स्मृति को

प्राक्कथन

जिस बात को कहने के लिए दूसरों को एक पूरी पुस्तक लिखनी पड़ती है—फिर भी वे कभी-कभी वह नहीं कह पाते जो वे कहना चाहते हैं, उसी बात को दस पंक्तियों में लिखने की महत्त्वाकांक्षा सामने रखकर जर्मन दार्शनिक फ्रेडेरिक नित्शे ने `Twilight of Idols' और `Anti-Christ' जैसी पुस्तकें लिखीं। मैंने ये पुस्तकें पढ़ीं तब लगा—जिसे कहने के लिए मैं एक पूरा निबन्ध लिखकर पाठकों के सामने रखता आया हूँ, वह भले ही दस पंक्तियों में न हो, पर डायरी के एक दो पृष्ठों में तो लिखने की कोशिश करके देखनी ही चाहिए। प्रसार माध्यमों की वृद्धि की वजह से आजकल शब्दों का काफी अवमूल्यन हुआ है। शब्दों का कम-से-कम उपयोग करके ज्यादा से ज्यादा कहने की कोशिश में शब्दों का मूल्य बढ़ता है या नहीं यह देखना चाहिए। और मैं इस तरह के चिन्तन लिखता रहा।

इन चिन्तनों में से कुछ चुनकर कोंकणी में 'ओथांबे' नाम की एक पुस्तक पाँच साल पहले लिखी थी। उसी पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद मेरी बेटी चि. माधवी सरदेसाई ने किया है। मैंने यह अनुवाद देखा है और मुझे उससे सन्तोष है।

सावन में जब कभी बारिश जाने के बाद पेड़ों के पत्तों से टपक-टपक कर जो बूँदें गिरती हैं उन्हें कोंकणी में 'ओथांबे' कहते हैं। 'ओथांबे' के लिए हिन्दी में क्या शब्द है यह न तो चि. माधवी को सूझा, न मुझे। इसलिए पुस्तक का नाम 'पतझर में टूटी पत्तियाँ' रख दिया, अच्छा लगा।

जो कुछ कहना था, पुस्तक में कह दिया है। हिन्दी-जगत् इसका किस तरह स्वागत करता है यह देखने की अब उत्सुकता है।

—रवीन्द्र केलेकर

1

शुद्ध सोना अलग है और गिन्नी का सोना अलग। गिन्नी के सोने में थोड़ा-सा ताँबा मिलाया हुआ होता है, इसलिए वह ज्यादा चमकता है और शुद्ध सोने से मजबूत भी होता है। औरतें अकसर इसी सोने के गहने बनवा लेती हैं।

फिर भी होता तो वह है गिन्नी का ही सोना।

शुद्ध आदर्श भी शुद्ध सोने के जैसे ही होते हैं। चन्द लोग उनमें व्यावहारिकता का थोड़ा-सा ताँबा मिला देते हैं और चलाकर दिखाते हैं। तब हम लोग उन्हें 'प्रैक्टिकल आइडियालिस्ट' कहकर उनका बखान करते हैं।

पर बात न भूलें कि बखान आदर्शों का नहीं होता, बल्कि व्यावहारिकता का होता है। और जब व्यावहारिकता का बखान होने लगता है तब 'प्रैक्टिकल आइडियालिस्टों' के जीवन से आदर्श धीरे-धीरे पीछे हटने लगते हैं और उनकी व्यावहारिक सूझबूझ ही आगे आने लगती है।

सोना पीछे रहकर ताँबा ही आगे आता है।

चन्द लोग कहते हैं, गाँधीजी 'प्रैक्टिकल आइडियालिस्ट' थे। व्यावहारिकता को पहचानते थे। उसकी कीमत जानते थे। इसीलिए वे अपने विलक्षण आदर्श चला सके। वरना हवा में ही उड़ते रहते । देश उनके पीछे न जाता।

हाँ, पर गाँधीजी कभी आदर्शों को व्यावहारिकता के स्तर पर उतरने नहीं देते थे। बल्कि व्यावहारिकता को आदर्शों के स्तर पर चढ़ाते थे। वे सोने में ताँबा नहीं बल्कि ताँबे में सोना मिलाकर उसकी कीमत बढ़ाते थे।

इसलिए सोना ही हमेशा आगे आता रहता था।

व्यवहारवादी लोग हमेशा सजग रहते हैं। लाभ-हानि का हिसाब लगाकर ही कदम उठाते हैं। वे जीवन में सफल होते हैं, अन्यों से आगे भी जाते हैं पर क्या वे ऊपर चढ़ते हैं ? खुद ऊपर चढ़ें और अपने साथ दूसरों को भी ऊपर ले चलें, यही महत्त्व की बात है। यह काम तो हमेशा आदर्शवादी लोगों ने ही किया है। समाज के पास अगर शाश्वत मूल्यों जैसा कुछ है तो वह आदर्शवादी लोगों का ही दिया हुआ है। व्यवहारवादी लोगों ने तो समाज को गिराया ही है।

2

सुकरात लोगों से पूछता, ''तुम्हारा जूता टूट जाए तो उसे जोड़ने के लिए तुम किसके पास जाओगे?''

''मोची के पास।'' लोग जवाब देते।

''मोची के पास ही क्यों? बढ़ई के पास क्यों नहीं?''

''क्योंकि जूते बनाने-जोड़ने का काम मोची का है, बढ़ई का नहीं।'' लोग जवाब देते।

''अच्छा, मान लो, तुम्हारी माँ बीमार है। तो दवाई के बारे में तुम किसकी सलाह लोगे?''

''डॉक्टर की।'' लोग जवाब देते।

''डॉक्टर की ही क्यों? वकील की क्यों नहीं?''

''क्योंकि दवाई की जानकारी डॉक्टरों को ही होती है, वकीलों को नहीं।''

सुकरात इस प्रकार, लोगों से एक के बाद एक प्रश्न पूछता था और उनसे जवाब पाने की कोशिश करता था। फिर हँसता हुआ कहता था, ''सज्जनो, जूता सिलवाना हो तो तुम मोची के पास जाते हो, मकान बनवाना हो तो मिस्त्री की मदद लेते हो। फर्नीचर बनवाना हो तो बढ़ई को काम सौंपते हो। बीमार पड़ने पर डॉक्टरों की सलाह लेते हो। किसी झमेले में फँस जाते हो तब वकीलों के पास दौड़ते हो। क्यों? ये सब लोग अपने-अपने क्षेत्र के जानकार हैं, इसीलिए न? फिर बताओ, राजकाज तुम 'किसी के भी' हाथ में कैसे सौंप देते हो? क्या राजकाज चलाने के लिए जानकारों की जरूरत नहीं होती? ऐरे-गैरों से काम चल सकता है?''

स्वराज्य में हमने लोकसभा, राज्यसभा, विधानसभाओं में 'किसी को भी' भेज दिया, 'किसी को भी' मन्त्री बना दिया। हमने उनका अनुभव वगैरह कुछ नहीं देखा। देखी सिर्फ उनकी जाति या उनका धर्म। नतीजा—मौजूदा सरकार से पहले की सरकार अच्छी थी, उससे अच्छी उससे पहले की थी, यह कहते-कहते अन्त में सबसे अच्छी अँग्रेजों की थी, इस नतीजे पर आ पहुँचते हैं।

लोकतन्त्र को बचाना हो तो किसी-न-किसी को समाज में सुकरात की भूमिका निभानी ही होगी। लोगों से प्रश्न पूछ-पूछकर उन्हें सजग करने का काम करना होगा। हो सकता है, लोगों को वह असहनीय मालूम हो और लोग उसे जहर पिलाने के लिए उद्यत हो जाएँ।

लेकिन यह कीमत हमें स्वराज्य और लोकतन्त्र को बचाने के लिए चुकानी ही होगी।

3

मेरे और उनके विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर है। मैं मानता हूँ, ठीक उससे उल्टा वे मानते हैं। और वे मेरे पड़ोस में रहने आये हैं!

मुझे क्या करना चाहिए? इनके पड़ोस में मुझे रहना नहीं है, कहकर यहाँ से और कहीं चले जाना चाहिए? नहीं, मैं बेबस आदमी नहीं हूँ। मुझे यहाँ से खिसकना नहीं चाहिए। तो क्या, उन्हें मेरे विचारों के अनुरूप ढालने के प्रयासों में लग जाना चाहिए? नहीं, मैं बेवकूफ नहीं हूँ। क्या उनसे बोलना बन्द कर देना चाहिए? उनसे कोई सम्बन्ध ही न रखना चाहिए? नहीं, मैं बुजदिल नहीं हूँ। मेरे सामने एक ही रास्ता है। उनसे दूर भागने, सम्बन्ध तोड़ने या उन्हें अपने विचारों का बनाने के प्रयास करने के बजाय उनके पड़ोस में ही रहकर मुझे अपने विचारों को लेकर चलना चाहिए और उन्हें अपने विचारों से चलने देना चाहिए। हो सके तो उन्हें समझने की कोशिश करनी चाहिए। सौ फीसदी मतभेद तो अपने कट्टर दुश्मनों से भी नहीं होते। दस फीसदी मतभेद हों तो नब्बे फीसदी ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ हम साथ-साथ काम कर सकते हैं।

मतभेद तो विचारों की दुनिया की शान है।

जैनों का एक सिद्धान्त है, जिसे वे स्याद्वाद कहते हैं। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण सत्य तो किसी को भी पूर्णरूप से दिखाई नहीं देता। किस जगह पर खड़े रहकर उसकी ओर हम देखते हैं, इसी पर हमारे सत्य का दर्शन निर्भर होता है। और ऐसी जगहें तो अनगिनत हैं। मान लीजिए किसी सैलानी ने हमसे पूछा, गोवा किस ओर है? वह दिल्ली का हो तो हमारा जवाब होगा, गोवा दिल्ली के दक्षिण की ओर है और वह बैंगलोर का हो तो हम कहेंगे गोवा बैंगलोर के उत्तर की ओर है। गोवा से अगर पूछें तो वह कहेगा, मुझे जहाँ होना चाहिए मैं वहीं हूँ। हाँ, दिल्ली मेरे उत्तर दिशा में है, और बैंगलोर दक्षिण की ओर है। इनमें से एक भी जवाब झूठा नहीं है। सभी सत्य हैं। लेकिन अलग-अलग जगहों पर खड़े रहकर उत्तर दिये हुए हैं। इस सत्य की अगर प्रतीति हो जाए तो अनेक परस्पर विरोधी विचारों के लोग एक-दूसरे के पड़ोस में जरूर रह सकेंगे।

4

जापान में मैंने अपने एक मित्र से पूछा, ''यहाँ के लोगों को कौन-सी बीमारियाँ अधिक होती हैं?''

''मानसिक'', उन्होंने जवाब दिया, ''यहाँ के अस्सी फीसदी लोग मनोरुग्ण हैं।''

''इसकी क्या वजह है?''

कहने लगे, ''हमारे जीवन की रफ्तार बढ़ गयी है। यहाँ कोई चलता नहीं, बल्कि दौड़ता है। कोई बोलता नहीं, बकता है। हम जब अकेले पड़ते हैं, तब अपने आपसे लगातार बड़बड़ाते रहते हैं।...अमरीका से हम प्रतिस्पर्धा करने लगे। एक महीने में पूरा होनेवाला काम एक दिन में ही पूरा करने की कोशिश करने लगे। वैसे भी दिमाग की रफ्तार हमेशा तेज ही रहती है। उसे 'स्पीड' का इंजन लगाने पर वह हजार गुना अधिक रफ्तार से दौड़ने लगता है। फिर एक क्षण ऐसा आता है, जब दिमाग का तनाव बढ़ जाता है और पूरा इंजन टूट जाता है।...यही कारण है, जिससे मानसिक रोग यहाँ बढ़ गये हैं।...''

शाम को वह मुझे एक 'टी सेरेमनी' में ले गये। चाय पीने की यह एक विधि है। जापानी में उसे चा-नो-यू कहते हैं।

वह एक छः मंजिली इमारत थी, जिसकी छत पर दफ्ती की दीवारोंवाली और तातामी (चटाई) की जमीनवाली एक सुन्दर पर्णकुटी थी। बाहर बेढब-सा एक मिट्टी का बर्तन था। उसमें पानी भरा हुआ था। हमने अपने हाथ-पाँव इस पानी से धोये। तौलिए से पोंछे और अन्दर गये। अन्दर 'चाजीन' बैठा था। हमें देखकर वह खड़ा हुआ। कमर झुकाकर उसने हमें प्रणाम किया। दो...झो...(आइए, तशरीफ लाइए) कहकर स्वागत किया। बैठने की जगह हमें दिखायी। अँगीठी सुलगायी। उस पर चायदानी रखी। बगल के कमरे में जाकर कुछ बर्तन ले आया। तौलिये से बर्तन साफ किये। सभी क्रियाएँ इतनी गरिमापूर्ण ढंग से कीं कि उसकी हर भंगिमा से लगता था मानों जयजयवन्ती के सुर गूँज रहे हों। वहाँ का वातावरण इतना शान्त था कि चायदानी के पानी का खदबदाना भी सुनाई दे रहा था।

चाय तैयार हुई। उसने वह प्यालों में भरी। फिर वे प्याले हमारे सामने रख दिये गये। वहाँ हम तीन मित्र ही थे। इस विधि में शान्ति मुख्य बात होती है। इसलिए वहाँ तीन से अधिक आदमियों को प्रवेश नहीं दिया जाता। प्याले में दो घूँट से अधिक चाय नहीं थी। हम ओठों से प्याला लगाकर एक-एक बूँद चाय पीते रहे। करीब डेढ़ घण्टे तक चुसकियों का यह सिलसिला चलता रहा।

पहले दस-पन्द्रह मिनट तो मैं उलझन में पड़ा। फिर देखा, दिमाग की रफ्तार धीरे-धीरे धीमी पड़ती जा रही है। थोड़ी देर में बिलकुल बन्द भी हो गयी। मुझे लगा, मानों अनन्तकाल में मैं जी रहा हूँ। यहाँ तक कि सन्नाटा भी मुझे सुनाई देने लगा।

अकसर हम या तो गुजरे हुए दिनों की खट्टी-मीठी यादों में उलझे रहते हैं या भविष्य के रंगीन सपने देखते रहते हैं। हम या तो भूतकाल में रहते हैं या भविष्यकाल में। असल में दोनों काल मिथ्या हैं। एक चला गया है, दूसरा आया नहीं है। हमारे सामने जो वर्तमान क्षण है, वही सत्य है। उसी में जीना चाहिए। चाय पीते-

पीते उस दिन मेरे दिमाग से भूत और भविष्य दोनों काल उड़ गये थे। केवल वर्तमान क्षण सामने था। और वह अनन्तकाल जितना विस्तृत था।

जीना किसे कहते हैं, उस दिन मालूम हुआ।

झेन परम्परा की यह बड़ी देन मिली है जापानियों को!

5

बस स्टॉप पर मैं अपनी बस की प्रतीक्षा कर रहा था। वहीं 'भैया, बच्चे को कुछ दे दो' कहकर एक भिखारिन ने मेरे सामने हाथ फैलाया। मैंने अपनी जेब टटोली। एक रुपये का सिक्का मिला। मैंने उसे दे दिया।

मेरे साथ एक मित्र कतार में खड़े थे। कहने लगे, ''भिखारियों को पैसे देने की यह आदत अच्छी नहीं है। भीख माँगना आजकल अच्छा-खासा धन्धा बन गया है। ऐसे लोगों से काम करने को कहना चाहिए।''

मेरे पास जवाब था, लेकिन देने की इच्छा नहीं हुई। खामखाँ रास्ते पर ही बहस छिड़ जाती।

मन बरसों पीछे चला गया।

मैं मुंबई से दिल्ली जा रहा था। दोपहर के समय ट्रेन एक बड़े स्टेशन पर रुकी। बीस मिनट का पड़ाव था। वहीं मेरी थाली आयी। खाना शुरू करने ही जा रहा था कि 'भैया, बच्चे को कुछ दे दो' कहकर एक भिखारिन हाथ फैलाये खिड़की के सामने आकर खड़ी हो गयी। 'कम्बख्त, ठीक इसी वक्त आयी है' कहकर मैंने उसे मन ही मन कोसा। दिल कठोर करके उसे आगे जाने को कहा और खिड़की बन्द कर दी।

लेकिन गले के नीचे कौर उतरे तब न! थोड़ी देर उधेड़बुन में पड़ा रहा। मन ही मन मैंने अपने को कोसते हुए कहा—बेचारी लाचार है, इसीलिए भीख माँग रही है। उसका यह धन्धा थोड़े ही है! समाज उसे काम नहीं दे सका इसलिए उसके सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं रहा...काम मिलता तो भीख कौन माँगता? उसे 'आगे जाओ' कहकर मैंने खिड़की बन्द कर दी थी, इस बात पर मुझे अब शर्म महसूस होने लगी। दूसरे ही क्षण मैंने निर्णय ले लिया। एक रोटी पर थोड़ी सब्जी अपने लिए अलग रख ली और बाकी की सारी थाली भिखारिन को देने की सोची। खिड़की खोल दी। बाहर वह भिखारिन नहीं दिखी। मैं उसे ढूँढ़ने प्लेटफॉर्म पर उतरा। वह कहीं नजर नहीं आयी। मैं अपना-सा मुँह लेकर डिब्बे में लौट आया। अपने लिए अलग रखी हुई रोटी और सब्जी फिर से थाली में रख दी और थाली सीट के नीचे सरका दी।

गाड़ी छूटने के समय वेटर आया। वह पैसे और थाली दोनों ले गया।

मेरी बगल में एक नवजवान बैठा था। इण्टरव्यू के लिए दिल्ली जा रहा था। बड़ा बातूनी था। ऐन रैण्ड की पुस्तक पढ़ रहा था। उसके साथ देर शाम तक बातें करता रहा।

ट्रेन तेज रफ्तार से दौड़ रही थी। रात को एक बड़ा स्टेशन आया, जहाँ वह रुक गयी। वहाँ मेरी थाली आयी। मैं खाने जा ही रहा था कि मुझे उस भिखारिन की वही आवाज फिर से सुनाई दी—'भैया, बच्चे को कुछ दे दो।' 'अच्छा! तो यह हमारे साथ ट्रेन में ही है!' मैंने आश्चर्यचकित होकर अपने आपसे कहा और अपनी थाली उसे देने को हुआ। अचानक मेरी नजर भिखारिन के चेहरे पर पड़ी। हक्का-बक्का होकर उसे देखने लगा। मैं बुदबुदाया, ''तुम ? भीख माँग रही हो ? नहीं...मैं जब तक जिन्दा हूँ, तुम्हें इस हालत में कभी नहीं पड़ने दूँगा...कभी नहीं...।'' यह कहकर मैं सिसकियाँ लेने लगा।

मैंने स्वप्न में अपनी माँ को भीख माँगते देखा था।

ट्रेन छुक-छुक-छुक-छुक करके दौड़ रही थी।

तब से किसी भी भिखारी या भिखारिन को 'आगे जाओ' कहने की हिम्मत मुझे नहीं होती। जेब में जो कुछ हाथ आता है, निकालकर दे देता हूँ।

6

बरसों से हम इसी रास्ते को, जिस पर हम चल रहे हैं, सही मानते आये। अब मालूम हुआ कि यह सही रास्ता नहीं, बल्कि गलत है। जिस मंजिल पर पहुँचना चाहते हैं, वहाँ ले जाने वाला नहीं है। मगर, यकायक उसे छोड़ कैसे दें, इस उलझन में उसी रास्ते पर हम अब भी चल रहे हैं।

गाँधीजी के रास्ते चलते, तो गरीबों को कम से कम दो रोटियाँ तो हम मुहैया करा ही देते। गरीबी कुछ हद तक कम हो जाती। पर हमने इस रास्ते को पुराना, सोलहवीं सदी का माना और उसे छोड़ दिया। बदले में जवाहरलाल नेहरू का चार रोटियाँ देने की इच्छा रखने वाला 'आधुनिक' रास्ता अपनाया। इस रास्ते पर चलते अब हमें पचास साल से ज्यादा हो गये। गरीबों को आधी रोटी भी हम मुहैया नहीं करा सके। इस प्रतीति के बाद भी हम यह रास्ता छोड़ना नहीं चाहते। इसी रास्ते पर चलने की ख्वाहिश रखते हैं।

हमने गलत रास्ता अपनाया है, यह कबूल करने की नैतिक हिम्मत देश के कर्णधारों में नहीं है।

हम सारी दुनिया को धोखा दे सकते हैं। अपने आपको कैसे देंगे?

जहाँ नींद खुल जाती है, वहीं से हमारी सुबह शुरू होती है। इस अर्थ का एक मुहावरा गुजराती भाषा में है—'जाग्या त्यॉथी सवार'। गोवा से मुम्बई जाने के लिए निकला हुआ आदमी मंगलूर पहुँच जाए तो कहना चाहिए, वह गलत रास्ते जा रहा है। और इसी रास्ते आगे जाने की वह जिद ठान ले तो उसे बताना चाहिए, 'भाई, तुम इसी रास्ते आगे बढ़ोगे तो कोचीन पहुँच जाओगे, कन्याकुमारी पहुँचोगे।' यहाँ तक कि दक्षिण ध्रुव तक भी जा सकते हो मगर मुम्बई कभी नहीं पहुँचोगे। गलत रास्ते से चलनेवाले के कदम सही रास्ते पर कभी नहीं पड़ते। अपनी तय की हुई मंजिल पर वह कभी नहीं पहुँच सकता। इतने साल हम इसी रास्ते चलते आये, अब उसे कैसे छोड़ सकते हैं, यह कहना बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। गलत रास्ता छोड़ देने में ही बुद्धिमानी है। एक बार निर्णय लेना पड़ेगा—'हम गलत रास्ते पर नहीं चलेंगे...नहीं यानी नहीं, कभी नहीं।' बस, सारी उधेड़-बुन दूर हो जाएगी और जिस रास्ते चलना चाहिए, उसी रास्ते पर कदम पड़ते रहेंगे।

अपना रास्ता गलत था यह जवाहरलाल को आखिर में महसूस हो गया था। पर रास्ता बदलने का निश्चय करने के पहले ही वे चल बसे। दुर्भाग्य से उनके उत्तराधिकारी भी उसी गलत रास्ते चलते रहे। नतीजा—समाजवाद के स्वर्ग में जाने के लिए निकले हुए हम लोग विश्व बैंक के मुक्त बाजार की दलदल में फँस गये।

7

यूँ तो हम सब समान हैं। लेकिन मैं जिस तरह से सोचता हूँ उस तरह से दूसरा नहीं सोचता। हर एक के सोचने का ढंग अलग होता है। हर एक की रुचि अलग होती है। हर एक की कार्यपद्धति अलग होती है। क्योंकि हर एक के संस्कार अलग होते हैं। इसलिए दो अन्तरंग मित्रों के बीच भी मतभेद होते हैं। यही नहीं, दोनों के बीच कभी-कभी गलतफहमियाँ भी हो जाती हैं।

आज की सभ्य दुनिया में औचित्य के बारे में कुछ गलत धारणाएँ प्रचलित हैं। अपने अन्तरंग मित्र के बारे में मन में कोई शंका पैदा हो जाए तो मैं निखालिसता के साथ उसे बताता नहीं। उसे बुरा न लगे इस डर से मैं बताने से हिचकिचाता हूँ। लेकिन तीसरे किसी को बिना दुविधा के बता देता हूँ। कभी-कभी किसी दूसरे नाम से लिख भी डालता हूँ और अखबारों में भी भेज देता हूँ।

अनुभव यह है कि मैं जो तीसरे से कहता हूँ, वह उसे मालूम हो ही जाता है। अखबारों में देता हूँ तो वह किसने लिखा है, यह भी उसे पता चल ही जाता है।

और उसका मन दूषित होता है।

एक नीतिवचन सुना था—

आज का तुम्हारा मित्र कल शत्रु बन सकता है। इसी तरह आज का शत्रु कल मित्र बन सकता है। आज का मित्र कल शत्रु बनने पर तुम्हारे मर्म दुनिया के सामने खोल सकता है। इसलिए आज भी तुम उससे इस तरह की सतर्कता से पेश आओ जिससे तुम्हारे मर्म उसके ध्यान में ही न आ पाएँ। इसी तरह आज का शत्रु कल मित्र बनने पर शर्म के मारे तुम्हें उसके सामने अपना सिर झुकाना न पड़े, यह ध्यान में रखकर ऐसा कोई काम न करो जिससे उसे चोट पहुँचे।

ऊपर से देखने पर यह नीति व्यवहारकुशल लोगों की-सी लगती है पर गहराई में उतरने पर इस नीति में आर्यत्व का भी अंश दिखाई देगा।

किसी के भी मर्मस्थान पर हमारे हाथों कोई आघात नहीं पहुँचना चाहिए।

कवि बोरकरजी के साथ मेरे अकसर मतभेद हुआ करते थे। लेकिन हम दोनों ने एक नियम बना लिया था। मन में थोड़ी-सी भी शंका-कुशंका पैदा होते ही हम एक-दूसरे से मिलते और मन की बात एक-दूसरे को बता देते। हमारे बीच मतभेद हमेशा रहे, पर गलतफहमी कभी भी पैदा न हो पायी।

दोष हम सबमें हैं। अच्छे से अच्छे माने जाने वाले लोगों में भी हैं। गुण भी हम सबमें हैं। बुरे से बुरे माने जाने वाले लोगों में भी। गुणों और दोषों के तानों-बानों से हम सबका जीवनपट बुना हुआ है।

अपने दोष दुनिया के सामने न आएँ इसकी दक्षता हर आदमी प्राप्त करता आया है। इस इच्छा की हमें कद्र करनी चाहिए और दूसरे के दोष दुनिया के सामने रखने का प्रयत्न किसी भी संस्कारी आदमी को नहीं करना चाहिए। नियम ही बना लेना चाहिए कि मन में शंका पैदा हो तो उसे हम उसी को बता देंगे, तीसरे को कभी नहीं। छद्म नाम से अखबारों में तो कभी नहीं लिखेंगे। पीठ पीछे बुराई करने वालों को हम चुगलखोर कहते हैं। और चुगलखोर को हमेशा घटिया आदमी मानते आये हैं।

8

कितनी विसंगतियाँ भरी पड़ी हैं हमारे नीतिशास्त्र में!

वह कहता है, सत्यम् ब्रूयात। सच बोलो। हाँ, सच ही बोलना चाहिए हमेशा। झूठ कभी नहीं बोलना चाहिए। फिर झूठ बोलने पर चाहे जो लाभ क्यों न होता हो। लेकिन वह यह भी कहता है, प्रियम् ब्रूयात। प्रिय बोलो। जो बोलो वह दूसरों के कानों को मीठा लगना चाहिए। सच मीठा थोड़े ही होता है! वह तो हमेशा कड़वा ही होता

है। उसे मीठा बनाना सरासर झूठ का ही एक प्रकार है। तब क्या करना चाहिए? तो कहता है, न ब्रूयात् सत्यम् अप्रियम्। अप्रिय सच बिलकुल मत बोलो। यह तो दाम्भिकता है।

समाज में जो झूठ फैला हुआ है उससे लोगों को मुक्त करना हो तो कड़वा सच बोलना ही होगा। कड़वा सच बोलने की हिम्मत हममें होनी ही चाहिए। लोगों को बुरा लगेगा, लगने दो। वे नाराज होंगे, होने दो। उन्हें तकलीफ होगी, होने दो। साफ दिल से सच बोलोगे तो उसका परिणाम अच्छा ही होगा। कड़वे सच की ही हमेशा विजय होती आयी है।

समाज में कड़वा सच सुनने की सहिष्णुता न हो तो वह कभी भी ऊँचा नहीं उठ सकेगा।

अभी-अभी एक और नीतिवचन पढ़ने को मिला—

''प्राप्याचलान् अधिकारान् / शत्रुषु मित्रेषु बन्धुवर्गेषु / नाऽपकृतं नोपकृतं न सत्कृतम् / किं कृतं तेन?''—तुम्हारे हाथों में आज सत्ता है। यह सत्ता हमेशा तुम्हारे पास रहने वाली नहीं है। आज है तो कल शायद चली भी जा सकती है इसलिए तुम्हें क्या करना चाहिए? जब तक सत्ता है तब तक दुश्मनों का जितना नुकसान कर सकते हो, करना चाहिए। मित्रों का और अपने लोगों का जितना भला कर सकते हो, करना चाहिए। हाथ में सत्ता होते हुए भी तुमने यह नहीं किया तो सत्ता हाथ में लेकर क्या किया—किं कृतं तेन।

अब बताइए, इस तरह की नसीहत जिस देश को मिलती रही है, वह देश भ्रष्टाचार से मुक्त भला कैसे हो सकता है?

हमारे धर्मशास्त्र का ही नहीं, बल्कि नीतिशास्त्र का भी पुनर्मूल्यांकन करके उसे साफ-सुथरा बनाना होगा।

9

शान्तादुर्गा का दर्शन लेकर वह मन्दिर से बाहर आया और सीढ़ियाँ उतरने लगा। तब, सामने ही उसे वह दिखाई दी। वह सीढ़ियाँ चढ़ रही थी। उसके साथ उसका पति था। इसके साथ इसकी पत्नी।

''कैसे हो?'' उसने पूछा।

इसने स्तम्भित होकर उसकी ओर देखा और कहा, ''मैं ठीक हूँ...तुम कैसी हो?'' अपनी पत्नी को आगे करके इसने कहा, ''यह मेरी पत्नी है।''

पीछे की ओर खड़े पति को दिखाकर उसने कहा, ''यह मेरे पति हैं।''

फिर एक-दूसरे से 'बच्चे कितने हैं...क्या पढ़ते हैं,' आदि औपचारिक प्रश्न पूछकर दोनों ने अपना-अपना रास्ता लिया।

मैं दोनों को देखता ही रह गया।

पन्द्रह साल पहले दोनों को प्यार में डूबे हुए देखा था। दोनों की शादी करने की इच्छा थी। दुर्भाग्य से कर ही नहीं पाये थे। फिर, एक-दूसरे से मिलना भी सम्भव नहीं रहा। क्योंकि वह यहीं रही और यह अमेरिका चला गया।

''पुरानी यादें उमड़ी नहीं क्या?'' मैंने उससे पूछा।

''उमड़ी थीं,'' उसने उत्तर दिया, ''पर एक क्षण के लिए। दूसरे ही क्षण यह प्रतीत हुआ कि वह वह नहीं है। उसकी माँ है।''

मैंने कहा, ''उसको भी शायद यही प्रतीत हुआ होगा। तुम तुम नहीं, उसके पिताजी हौ।''

दोनों का रूप पहले के जैसा ही रहता और पन्द्रह साल बाद उनका मिलन होता तो हो सकता है, असफल प्यार की पुरानी जख्में खुल जातीं। पर कालचक्र की यही खूबी है, कि वह पुराने जख्म भी भर देता है। पुराने दु:ख भी हल्के कर देता है और पुराने प्यार को भी भुला देता है।

मगर पुराने अपमान और पुराने बैर वह क्यों भुला नहीं देता? पुराने बैर और अपमान हम आसानी से भूलते नहीं हैं। क्यों? हमारी आयु बढ़ती है पर मानसिकता वही रहती है, इसीलिए न?

10

आश्रम में एक भजन सुना था, 'उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।' उसकी एक पंक्ति तीर की तरह दिल में पैठ गयी थी, 'जो कल करे सो आज कर ले, जो आज करे सो अब कर ले।' पर जवान था। जीने के लिए सामने कई वर्ष फैले हुए दीख पड़ते थे। चालीस की उम्र तक एक तरह की निश्चिन्तता से ही दिन बिताता रहा। पचासवाँ लगा तब जो काम करने बाकी हैं, उनकी सूची बनायी। लगा, ये काम पूरा करने के लिए कम से कम बीस साल तो चाहिए। आयु के बैंक बैलेंस में इतने साल बचे हैं या नहीं, कौन बताएगा! अब समय बरबाद करने वाले सब काम छोड़ देने चाहिए। छोड़ दिये। साठ पूरे हुए तब हिसाब लगाया। तीसरे हिस्से के भी काम पूरे नहीं हुए थे। साठ के बाद रॉकेट की रफ्तार से वर्ष दौड़ने लगे। इससे पहले इतनी रफ्तार से वे कभी नहीं दौड़े थे। मेरी दुनिया भी अब छोटी बन गयी है। कई साथी चल बसे। आज का काम कल के लिए छोड़ना अब मेरे लिए सम्भव नहीं है।

मेरे पास अब समय ही नहीं है।

बुद्ध का 'अनागत भयानि' नामक एक सूत्र है। उसमें कहा गया है, आज तुम जवान हो इसलिए यह मत सोचो कि तुम हमेशा जवान रहोगे। एक दिन तुम बुड्ढे होगे। तुम्हारी इच्छा न होते हुए भी होगे। इसलिए जो अब तक पाया नहीं है वह अभी पा लो। जो अब तक पढ़ा नहीं, अभी पढ़ डालो। जो दुनिया अब तक देखी नहीं, जवानी में ही देख लो। वरना बुढ़ापे में यह पाना, पढ़ना, देखना तुम्हें सम्भव नहीं होगा। और तुम्हें पछतावा होगा। आज जो पाओगे वह बुढ़ापे में भी तुम्हारे काम आएगा। बीमारी में भी काम आएगा। संकट में भी काम आएगा। हर परिस्थिति में काम आएगा। 'अनागत भयानि' यानी जो अभी आये नहीं हैं, पर भविष्य में आने वाले हैं, ऐसे भय। एक बुढ़ापे का, दूसरा बीमारी का, तीसरा अनपेक्षित संकटों का, चौथा मृत्यु का। पाँचवाँ भूल गया हूँ।

जीवन एक साधना है, हर क्षण जागृति के साथ जीने की। वरना 'अब पछताये क्या होत है जब चिड़िया चुग गयी खेत।'

11

हम दु:ख नहीं चाहते। लेकिन जिन्दगी में दु:ख तो आते ही रहते हैं। बिना बुलाये ही आते हैं। दु:ख के कारण हम अन्दर से मजबूत होते हैं। हमारा आन्तरिक जीवन समृद्ध भी होता है।

किसी ने कहा है, दु:ख तो हमारा परम धन है। बात सही है।

आमतौर से हमें अपनी शक्तियों का अन्दाजा नहीं होता। दु:खों का हम सामना करते हैं तभी उन शक्तियों की हमें कुछ-कुछ झाँकी मिलने लगती है। इसे एक तरह से हमारा नया जन्म ही कहना चाहिए। जन्म के समय पीड़ाएँ होंगी ही। पर हमारे अन्दर छिपी हुई शक्तियों का अन्दाज आने पर हमें खुशी भी होनी चाहिए।

12

स्वराज्य में कई लोग ऊपर चढ़ते ही गिर पड़े।

स्वराज्य में गाँव-गाँव में पाठशालाएँ शुरू हुईं। अनपढ़ परिवारों के बच्चे पढ़ने लगे। पढ़कर बड़े हुए तब अपने को अपनों से अलग मानने लगे। अलग ही नहीं, बल्कि बड़े मानने लगे, तब गिर पड़े।

गरीबों को रोजगार के मौके मुहैया हुए। वे कमाने लगे। मालदार बने। मालदार बनते ही दूसरों से अपने को बहुत बड़े मानने लगे, तब गिर पड़े।

मनुष्य जब अपने को दूसरों से बड़ा मानने लगता है तब गिर पड़ता है।

वह ऊपर कब चढ़ता है? पढ़ा-लिखा मनुष्य जब यह महसूस करता है कि मैंने पढ़ा बहुत कुछ है, फिर भी पढ़ने लायक अभी बहुत कुछ बाकी रह गया है, और नये-नये विषय पढ़ता ही रहता है, हमेशा विद्यार्थी ही रहता है, तब चढ़ता है। जो सचमुच में बड़े हैं उनकी ओर देखकर यह महसूस करता है कि इनके पैरों के नीचे की धूल का कण भी मुझसे अधिक मूल्यवान है, तब चढ़ता है। अपने स्वभाव के ऊबड़-खाबड़ अंग दिखाई देने पर अपने को सुधारने की कोशिश में लगता है, तब चढ़ता है।

किसी बड़े मनुष्य को यह मालूम नहीं होता कि वह बड़ा है। जब मालूम हो जाता है तब वह गिर पड़ता है।

13

कितना अन्तर पड़ गया है 15 अगस्त, 1947 के पहले के पचास वर्षों में और बाद के पचास वर्षों में!

पहले देश गुलाम था, आज आजाद है। पहले देश में पाँच सौ से अधिक छोटी-बड़ी रियासतें थीं, आज रियासतों का विलय हुआ है और देश अखण्ड है। पहले लोकतन्त्र नहीं था, आज लोकतन्त्र चलता है। पहले अन्तरराष्ट्रीय मंच पर हमारी कोई कीमत नहीं थी, आज हमारा दबदबा है। पहले बाहर से अनाज लाना पड़ता था, आज हम अनाज निर्यात करते हैं। पहले देश में कोई खास उद्योग नहीं थे, आज दुनिया के प्रथम पंक्ति के आठ औद्योगिक देशों में से हम एक हैं। पहले हमें वैज्ञानिकों को बाहर से बुलाना पड़ता था, आज हम वैज्ञानिक बाहर भेजते हैं।

किन्तु—

पहले देश ने हिमालय के शिखरों के समान उत्तुंग व्यक्तित्व के नेता पैदा किये थे, अब बौने पिग्मी नेता हमारे हिस्से आये हैं। और सबसे महत्त्व की बात—पहले बाहर सब जगह अँधेरा फैला हुआ था। पर कइयों के अन्तर में प्रकाश था। आज बाहर पहले की ही तरह अँधेरा फैला हुआ है। और अन्तर का प्रकाश बिलकुल लुप्त हो गया है।

14

सरल और दुर्गम ऐसे दो रास्ते सामने हों, तो आमतौर से सभी सरल रास्ता ही पसन्द करेंगे। पर दुर्गम रास्ता पसन्द करने वाला भी दुनिया में कोई न कोई मिल जाता है। दुर्गम रास्ते पर चलने से मनुष्य मजबूत और तेजस्वी बनता है। मजबूत और तेजस्वी बनने की ख्वाहिश कइयों के दिल में होती है। वरना, हिमालय के ऊँचे शिखरों पर चढ़ने की कोशिश कोई नहीं करता।

मगर मान लीजिए, हमारे सामने दूसरे दो रास्ते हैं। एक, सफलता की ओर ले चलने वाला, दूसरा, विफलता की ओर। तो क्या विफलता का रास्ता अपनाने वाला कोई दिखाई देगा? मजबूत और तेजस्वी लोगों में भी शायद ही कोई मिले। मजबूत और तेजस्वी लोगों की दुनिया भी सफलता के पीछे ही दौड़ने वाली होती है।

फिर भी सफलता को लात मारकर आगे जाने वाले लोग दुनिया में पैदा हुए हैं। ऐसे चन्द लोग तो हमने प्रत्यक्ष देखे भी हैं। गाँधी, लोहिया, जयप्रकाश ऐसे थे। लौकिक दृष्टि से वे विफल लोग हैं। लेकिन विफलता के कारण ही वे दुनिया को आगे ले जा सके हैं।

जयप्रकाश जी ने एक कविता लिखी थी—

जीवन विफलताओं से भरा है,
सफलताएँ जब कभी आयीं निकट
दूर ठेला है उन्हें निज मार्ग से
तो क्या यह मेरी मूर्खता थी?
नहीं, सफलता और विफलता की
परिभाषाएँ हैं भिन्न मेरी,
मुझ क्रान्तिशोधक के लिए
अन्य पथ भी मान्य थे...
जग जिसे कहता विफलता
थीं शोध की वे मंजिलें
और मंजिलें तो अनगिनत हैं...

अन्त में वे कहते हैं—

रुकना नहीं मुझको कहीं
अवरुद्ध जितना मार्ग हो...

जयप्रकाश जी को कहीं रुकना नहीं था। वे जिन्दगी भर चलते ही रहे। उनकी

तलाश ने उन्हें खामोश बैठने ही नहीं दिया।

सफल आदमी सफलता मिलने पर रुक जाता है। न खुद आगे बढ़ता है, न दूसरों को आगे जाने देता है। सफलता को जिन्होंने तुच्छ माना है वे ही आगे गये हैं। लगातार आगे चलते रहे हैं।

और उन्हीं की वजह से दुनिया भी आगे चलती रही है।

15

मुम्बई से गोवा आ रहा था। सुबह छः बजे के करीब बस कणकवली स्थानक पर आकर रुकी। मैं नीचे उतरा। मुँह धोया और बस स्टैण्ड के एक रेस्तराँ में जाकर चाय मँगवायी।

दिमाग बरसों पहले के—सन् 1948/49 के जमाने में मँडराने लगा। उन दिनों यहाँ एक सत्पुरुष रहते थे, जिन्हें मिलने मैं आया था। वे गाँधीजी के इनेगिने पाँच-सात साथियों में से एक थे। 'कोंकण के गाँधी' के नाम से पहचाने जाते थे। लेकिन लोग उन्हें अप्पा के घरेलू नाम से ही पुकारते थे। अपना सारा जीवन उन्होंने कोंकण प्रदेश की सेवा में बिताया था। महादेवभाई देसाई की मृत्यु के कारण जो जगह खाली पड़ी थी वह भरने के लिए गाँधीजी ने अप्पा को निमन्त्रित किया। वे मराठी के अलावा, गुजराती, हिन्दी और अँग्रेजी अच्छी तरह जानते थे। और कोई होता तो वह गाँधीजी के इस प्रस्ताव को शिरोधार्य मानकर सब कुछ छोड़कर उनके पास चला जाता। पर अप्पा उधेड़बुन में पड़े रहे। पिछले चौबीस बरसों से जिस प्रदेश की मैंने सेवा की वह यकायक छोड़ कैसे दूँ, यों सोचकर उन्होंने गाँधीजी के सामने अपनी अड़चन रख दी। गाँधीजी ने उनकी निष्ठा की कद्र की और कहा, ''आपकी अड़चन सच्ची है, महादेव की जगह प्यारेलाल भर लेंगे। आप अपना कार्य एकनिष्ठा से करते रहिए।'' और अप्पा (पटवर्धन) यहीं रहे। खादी, ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता निवारण, भंगीमुक्ति यही काम करते रहे।

चाय का घूँट पीते-पीते मैंने अपने आपसे पूछा, अप्पा के जिन्दगी भर के सेवाकार्य से कणकवली को क्या मिला? कणकवली कोई बड़ा शहर नहीं है। आज भी एक मामूली गाँव ही है पर अप्पा को आज यहाँ कोई नहीं जानता। अप्पा की सेवाएँ कहाँ दर्ज हुईं मालूम नहीं। उनकी मृत्यु के पश्चात् अप्पा का यहाँ न नाम रहा है, न सेवाकार्य।

अप्पा रहे हैं उनकी 'सेवाधर्म', 'चलनशुद्धि' जैसी पुस्तकों में और उनकी निहायत सुन्दर 'जीवनयात्रा' में।

दिमाग कणकवली से उड़कर दूर शान्तिनिकेतन में जाकर मँडराने लगा। कुछ

समय पहले मैं यहाँ आकर रहा था। और यहाँ का वायुमण्डल देखकर मायूस हुआ था। रवीन्द्रनाथ की पूरी आयु 'विश्वभारती' खड़ी करने के प्रयासों में व्यतीत हुई। विश्वभारती को उन्हें दुनिया का सबसे बढ़िया विश्वविद्यालय बनाना था। उनका यह सबसे बड़ा एक स्वप्न था। आज विश्वभारती में रवीन्द्रनाथ के स्वप्न का कितना हिस्सा बचा है? वह देश के अनेक विश्वविद्यालयों में से एक सामान्य विश्वविद्यालय है। रवीन्द्रनाथ अगर इतना ही काम करते तो इस काम के साथ ही वे भी समाप्त हो जाते।

रवीन्द्रनाथ रहे हैं, उनकी कविताओं में, उनके चित्रों में, उनके संगीत में।

असीरिया में एक जमाने में निनेवे नाम का एक बड़ा शहर था, जो देखने वालों की आँखें चकाचौंध करता था। पाश्काल अपनी पुस्तक 'पाँसे' में लिखते हैं, 'निनेवे के अब अवशेष भी कहीं देखने को नहीं मिलते।'

ईंट-पत्थर का जो कुछ हम बनाते हैं, टिक नहीं पाता। हमारे सेवाकार्यों में भी ऐसी क्या कमी रहती है, कि वह भी टिक नहीं पाता? आखिरकार क्या टिक पाता है? केवल संस्कार, विचार और प्रेरणाएँ? केवल अपौरुषेय चीजें?

16

मैंने स्वर्ग-नरक में कभी विश्वास नहीं रखा। अब कहने लगा हूँ—स्वर्ग भी है, नरक भी है।

सार्त्र का 'नो एक्ज़िट' नाम का एक नाटक देखने गया था। एक जगह दंगे होते हैं। आँखोंदेखा हाल लिखने के लिए एक पत्रकार वहाँ पहुँच जाता है। उसे वहाँ गोली लगती है और वह मर जाता है। यमदूत उसे उठाकर ले जाता है। वह यमदूत से पूछता है, ''मुझे कहाँ ले जा रहे हो, भाई?'' ''नरक में'' वह जवाब देता है। पत्रकार मन ही मन कहता है, मुझे वह और कहाँ ले जाएगा! पुण्य का संचय तो मैंने कभी किया ही नहीं। नरक ही मेरे भाग्य में है। उसने सुना था, नरक में तरह-तरह की यमयातनाएँ होती हैं। पर यहाँ तो उसे अलग ही अनुभव होता है। रहने के लिए उसे एक आलीशान कमरा दिया जाता है। भोजन भी बढ़िया से बढ़िया मिलता है। न कोई काम, न कोई धन्धा। पूछने वाला भी कोई नहीं। चाहे जो करो। वह चकित होकर यमदूत से पूछता है, ''यह नरक है या स्वर्ग?''

''नरक ही है।'' यमदूत जवाब देता है।

''लेकिन यहाँ तो मुझे किसी यमयातना का अनुभव नहीं हुआ।''

यमदूत हँस देता है। कहता है, ''पता नहीं, किसने तुम्हें बताया कि यहाँ यमयातनाएँ दी जाती हैं! जो भी यहाँ आता है, ऐसे ही गलत ख्याल लेकर आता है।

यहाँ ऐसा कुछ नहीं होता। बस, खाओ, पीओ, मौज करो।''

थोड़ी देर बाद यमदूत एक सुन्दर लड़की को लाकर यहाँ छोड़ जाता है। वह एक फोटोग्राफर थी, जो दंगे के फोटो खींचने गयी थी। वह भी गोली लगकर मर गयी थी। पत्रकार मन ही मन कहता है, ''चलो, अच्छा हुआ, एक साथिन तो मिल गयी। वरना अकेले-अकेले जी ऊब जाता।''

थोड़ी देर बाद यमदूत एक और लड़की को लाकर वहाँ छोड़ जाता है। पत्रकार को गुस्सा आता है। ''और कितने लोगों को लाकर तुम यहाँ छोड़ोगे?'' वह यमदूत से पूछता है।

''और किसी को नहीं...बस तुम तीनों यहाँ रहोगे। मजे में रहो।''

तीनों उस कमरे में रहते हैं। फिर वे एक-दूसरे के साथ ऐसे पेश आते हैं कि तीनों को एक दिन मालूम हो जाता है, नरक हमारे बाहर और कहीं नहीं है।

स्वर्ग भी है, नरक भी है। दोनों हमारे अन्दर ही हैं। पृथ्वी के बाहर, ऊपर, नीचे कहीं नहीं। आसपास के लोगों के साथ हमारे सम्बन्ध अच्छे रहेंगे तो स्वर्ग अपने आप हमारे इर्द-गिर्द खड़ा हो जाएगा। हम ही उसका निर्माण करेंगे। और सम्बन्ध कटु रहे तो हमारे इर्दगिर्द नरक भी हम ही निर्माण करेंगे। मरने के बाद स्वर्ग या नरक नहीं मिलते। जीवनकाल में ही मिलते हैं।

17

मुम्बई में रोजी-रोटी की तलाश में हर साल करीब पाँच लाख लोग बाहर से आते हैं। इस शताब्दी के अन्त तक मुम्बई की आबादी एक करोड़ अस्सी लाख होगी। यह भी कहा जाता है कि इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक में दुनिया के पचास प्रतिशत लोग मुम्बई जैसे शहरों में जाकर बसने वाले हैं।

ये लोग इन शहरों में कहाँ रहेंगे? जहाँ पर भी खाली जगह दीखेगी वहीं। झुग्गी-झोंपड़ियाँ बनाकर ही उन्हें वहाँ रहना पड़ेगा। शौच के लिए ये लोग कहाँ जाएँगे? समुद्र या नदियों के किनारे या खुली जगह कहीं पर भी उन्हें बैठना पड़ेगा। सभी शहर गन्दे होंगे। गन्दगी के कारण शहर में अनेक प्रकार के रोग फैलेंगे। और इनकी लपेट में बड़ी-बड़ी बिल्डिगों में रहनेवाले अमीर भी आ जाएँगे। नौकरियाँ तो सब लोगों को आसानी से मिलने वाली नहीं हैं। नतीजतन कुछ लोग, खासतौर से जवान, चोरी करेंगे, डकैतियाँ डालेंगे।

संसार में करीब दो सौ अस्सी बड़े शहर हैं। इनमें दो-दो करोड़ आबादी वाले महाकाय शहर करीब छब्बीस हैं। बीसवीं शताब्दी के अन्त में संसार में कुल मिलाकर

तीन सौ नब्बे शहर खड़े होंगे। इनमें महाकाय शहर करीब चालीस होंगे। तेरह एशिया खण्ड में और दक्षिण अमेरिका में।

'विकास' के नाम से यह जो शहरीकरण की अन्धाधुन्ध और अविवेकी प्रक्रिया दुनिया में चल रही है वह हमें अन्ततोगत्वा कहाँ ले जाएगी? विनाश की ओर तो नहीं? गाँव के बहुसंख्य लोगों को अपने-अपने गाँवों में ही रोजी-रोटी के साधन मुहैया करा देना विकास का मकसद होना चाहिए था। रोजी-रोटी की तलाश में गाँव के बाहर शहर में जाने की नौबत किसी पर भी आनी नहीं चाहिए। शहर में जाना सिर्फ नाम कमाने के लिए, यही नियम बनना चाहिए, पर यह तभी सम्भव होगा जब विकास की दिशा हम बदल देंगे—ज्यादा से ज्यादा माल तैयार करके विदेशों में भेजने और 'फॉरेन एक्सचेंज' कमाने के बदले ज्यादा से ज्यादा लोगों को काम देकर सभी गाँवों को आत्मनिर्भर करना। यही विकास का मकसद हो।

पर हमारी सबसे बड़ी अड़चन यह है कि इस मकसद को कबूल करने के लिए हमें गाँधी की ओर मुड़ना पड़ता है। और गाँधी की ओर मुड़ना हमें पीछे हटने जैसा लगता है।

एक बात ध्यान में रखें—विकास का मतलब वृद्धि नहीं। वृद्धि के लिए अँग्रेजी में एक और शब्द है, ग्रोथ। और ग्रोथ जब विषैला और असाध्य होता है तब उसे 'कैंसर' कहते हैं।

और 'कैंसर' के लिए कोई इलाज नहीं है।

18

सुधारक जब लोगों को सुधार की बातें बताता है तब लोग उसे सुनने के बजाय अकसर उसकी परीक्षा लेने लगते हैं। और उनकी परीक्षा में उसे एक भी मार्क कम पड़े तो तुरन्त कहने लगते हैं, "यह क्या हमें सिखलाएगा, इसे खुद सीख लेना चाहिए।"

और जैसे चलते आये हैं वैसे ही चलते रहते हैं।

मान लीजिए, सुधारक परीक्षा में सौ में से सौ ही अंक लेकर पास हुआ, तो वे कहेंगे, "कहाँ वह और कहाँ हम। हमारे बीच कोई मुकाबला ही नहीं हो सकता। वह तो दूसरी ही दुनिया का आदमी है। महात्मा है।"

और जैसे चलते आये हैं, वैसे ही चलते रहते हैं।

चालीस साल के अनुभव के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि सुधारक को किसी भी हालत में ऊँचे स्थान पर बैठकर लोगों को नसीहत नहीं देनी चाहिए। उसे इस तरह लोगों से पेश आना चाहिए कि लोगों को वह अपने ही जैसा पतनशील मालूम

हो। उसके बाद ही जब वह बताएगा कि हम जिस रास्ते से चल रहे हैं, वह गलत रास्ता है, हमें दूसरा रास्ता लेना चाहिए, इसी में हमारा भी भला है और दुनिया का भी, तभी लोग उसकी बातें सुनेंगे।

दूसरों से अलग होकर सुधारक सुधार नहीं कर सकता। दूसरों के साथ रहेगा तभी वह समाज को ऊँचा ले जाने में सफल होगा। जिस स्तर पर लोग हैं उसी स्तर पर सीढ़ी रखनी चाहिए ताकि लोग ऊपर चढ़ सकें। अभी तक सुधारकों की मनोवृत्ति 'मेरे पीछे चलो' कहने की रही है। इसे छोड़कर 'चलो, हम साथ चलें' वाला रवैया अपनाना चाहिए, तभी वे सफल होंगे।

19

मैंने नायबराज जी से कहा, ''आज मंजू को घर आने में देर होगी। सात-साढ़े सात बज जाएँगे। मैं खुद उसे घर लाकर छोड़ दूँगा।''

''क्या प्रोग्राम बनाया है?'' उन्होंने पूछा।

मैंने कहा, ''सन्निधि में काम करने वाली सभी लड़कियों को बंगाली मार्किट में आइसक्रीम खिलाने ले जाने की सोची है।''

''यह फिजूल खर्च करने की क्या जरूरत?''

मैंने कहा, ''तीस-चालीस रुपयों की ही तो बात है। तीस-चालीस रुपये खर्च करने पर बच्चों के चेहरे पर जो आनन्द देखने को मिलता है वह मेरे लिए तीस-चालीस लाख रुपयों से भी अधिक कीमत का है।''

नायबराज जी चुप रहे। थोड़ी देर बाद कहने लगे, ''पैसा तो लक्ष्मी है। लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है। हम सबकी वह माँ है। माँ को भोगा नहीं जाता, उसकी तो भक्ति और सेवा ही करनी चाहिए।''

20

भांजियाँ-भतीजियाँ अब शादी के लायक हो चुकी हैं। उनके माँ-बाप उनके लिए अच्छे घर ढूँढ़ने लगे हैं। कभी-कभी मुझसे पूछते हैं, ''यह लड़का कैसा है? हमें वह पसन्द आया है।'' और मैं उनसे कहता हूँ, ''लड़का अच्छा है, पर रिश्ता पक्का करने से पहले यह पूछताछ करो कि क्या माँ-बाप ने उसके लिए कोई जायदाद रखी है? अगर रखी हो तो उसे छोड़ दो, दूसरा ढूँढ़ो।''

मेरे परिचितों में जिन लड़कों के माँ-बाप ने जायदाद रखी थी, वे सब जिन्दगी में निकम्मे साबित हुए। वे कोई उद्यम, पराक्रम या पुरुषार्थ नहीं कर पाये। बच्चों को जायदाद रखकर माँ-बाप उनके पुरुषार्थ को नष्ट कर देते हैं। उन्हीं लोगों ने अब तक कुछ कर दिखाया है जिनको विरासत में कोई जायदाद नहीं मिली थी।

अमीर घर के लड़के से बेटी का रिश्ता पक्का करना दुर्भाग्य की ही बात माननी चाहिए।

21

दो महीने लगातार जापान में घूमता रहा। कहीं पर भी कुली या हमाल नहीं दिखे। सभी जगहों पर यात्रियों को अपना सामान खुद उठाकर ले चलते देखा। चूँकि हर एक को अपना-अपना सामान उठाना पड़ता है, इसलिए हर एक जापानी यात्री उतनी ही वस्तुएँ लाता है, जितनी वह खुद उठा सकता है।

जापान में किसी के घर नौकर या नौकरानियाँ भी नहीं दिखीं। नौकर-नौकरानियों का काम घर के ही लोग करते हैं। और चूँकि यह काम उन्हीं को करना पड़ता है, इसलिए जापानी कम से कम बर्तन उपयोग में लाते हैं।

जापान शहरों का देश है। चीन तो भारत के जैसा ही लाखों देहातों का देश है। वहाँ पर भी मैंने कहीं कुली-हमाल, नौकर-नौकरानियाँ नहीं देखीं। देहातों में सैप्टिक टैंकवाले पाखाने अभी नहीं आये हैं। जो पाखाने देहातों में हैं, उन्हें रोज साफ करना पड़ता है। घर के लोग ही बारी-बारी से उन्हें साफ करते हैं। चीन में मेहतर-मेहतरानियाँ नहीं हैं।

कुली, हमाल, नौकर, नौकरानियाँ, मेहतर, मेहतरानियाँ हमारे इस पुण्यभू भारतवर्ष में ही देखने को मिलते हैं। मुम्बई-दिल्ली में सबसे अधिक। आधुनिक दुनिया में ये 'प्राणी' कहीं भी नहीं हैं। हम अपने को आधुनिक भले मानें, पर सामन्ती संस्कारों से हम अभी मुक्त नहीं हुए हैं।

हर कोई अपना-अपना कुली, नौकर, बावर्ची, मेहतर बने, यह आदर्श हमारे सामने रखा सिर्फ गाँधी ने। उनकी प्रेरणा से देश में जहाँ-जहाँ आश्रम चलते हैं, वहाँ सभी अपने-अपने घर की सफाई करते हैं, सभी अपने-अपने कपड़े धोते हैं, सभी अपने-अपने बर्तन माँजते हैं और सभी पाखानों की सफाई करते हैं। मैंने आचार्य कृपलानी और जयप्रकाश जी जैसों को भी यह सब काम करते देखा है। किशोरलालभाई मशरूवाला को तो अपनी पत्नी की रसोई में मदद करते भी देखा है।

राजाजी गवर्नर जनरल बनकर राष्ट्रपति भवन में जाकर रहे। (वह उस समय

'वाइसरिगल हाउस' था।) पर गुसलखाने से बाहर हमेशा कपड़े धोकर ही आते थे। आज जब सभी आधुनिक देश गाँधी का आदर्श अमल में लाने लगे हैं तब किस मुँह से कहें कि ये पुराने आदर्श हैं? ये तो सनातन आदर्श हैं। आगे भी चलने वाले हैं। हम अपने-अपने कुली बनें, अपने-अपने घरों में झाड़ू लगाएँ, अपने-अपने कपड़े धोएँ, बर्तन साफ करें, पाखाने साफ करें। अपनी सामन्ती आदतों से हम मुक्त हो जाएँगे और जीवन में जड़मूल से बदलाव आएँगे, तभी सही माने में हम मॉडर्न बन पाएँगे।

देश में कुली, हमाल, नौकर-नौकरानियाँ, मेहतर-मेहतरानियाँ होना शर्म की बात है।

22

जब से वे विश्वविद्यालय में पढ़ाने लगे हैं, अन्यमनस्क-से हो गये हैं। खोये-खोये से, अपनी ही धुन में चलते हैं। भुलक्कड़ और लापरवाह भी हुए हैं।

प्राध्यापक को अन्यमनस्क होना चाहिए, वरना वह प्राध्यापक-सा नहीं दीखता, यही शायद उन्होंने मान रखा होगा।

मैंने उनसे कहा, ''वाकई आप अन्यमनस्क हुए होंगे तो मुझे कहना पड़ेगा, आपकी बुद्धि की धार भोथरी हो गयी है। प्राध्यापक की बुद्धि हमेशा सतर्क, फुर्तीली, जाग्रत रहनी चाहिए।''

बुद्धि सतर्क नहीं रहती तब हम ऐसी बातें कर बैठते हैं जो हमें नहीं करनी चाहिए। फिर 'ध्यान नहीं रहा' कहकर हमें अपनी गलतियों का समर्थन करना पड़ता है। यह संस्कारी आदमी को शोभा नहीं देता।

भगवान बुद्ध कहते थे, प्रमाद में रहोगे तो खो जाओगे। जाग्रत रहोगे तो जीत पाओगे। वे यह भी कहते थे कि चित्त इतना जाग्रत रहना चाहिए कि जब हम उठते हैं या बैठते हैं तब 'मैं उठ रहा हूँ' या 'मैं बैठ रहा हूँ' इसकी हमें स्मृति रहनी चाहिए। किसी विद्रोही पर नजर रखने के लिए सरकार जब कोई जासूस तैनात करती है तब वह विद्रोही के घर के पास ही ऐसी एक जगह ढूँढ़ लेता है, जहाँ उसे कोई देख न सके और वहीं बैठकर वह उसके यहाँ कौन आता-जाता है, इसकी निगरानी रखता है। वैसे ही हमें अपने चित्त में एक जासूस तैनात करना चाहिए जो हमारे दिमाग में कौन-से विचार आते-जाते हैं, इसकी निगरानी रखे। मनुष्य को हर पल जाग्रत ही रहना चाहिए।

अन्यमनस्क आदमी स्कूटर चलाता रहे तो उसे किसी न किसी दिन दुर्घटना का शिकार बनना ही पड़ेगा। अन्यमनस्क बनकर कोई दूकान चलाता रहे तो उसे किसी

न किसी दिन अपने दिवालियेपन का सामना करना ही पड़ेगा। अन्यमनस्क सेना को हम देश की सुरक्षा सौंप देंगे तो किसी न किसी दिन हमें पछताना ही पड़ेगा। अन्यमनस्क यानी प्रमादी। और भगवान बुद्ध कहते हैं—'पमादो मच्चुनो पदम्' प्रमाद मृत्यु समान है।

कोई वचन देता है और उसका पालन नहीं करता, ऊपर से 'मैं भूल गया', कहता है, तब मुझे उस पर इतना गुस्सा आता है कि मैं उससे हमेशा के लिए सम्बन्ध ही तोड़ लेता हूँ।

'मैं भूल गया' वाक्य को संज्ञेय (cognizable offence) मानना चाहिए।

23

न मालूम क्यों, जी उकता गया था। थकान महसूस होने लगी थी। मन में कोई उत्साह नहीं था। बिस्तर पर लेटे-लेटे करवटें बदलता रहा।

दो दिन यही सिलसिला चला। तीसरे दिन शाम को बिस्तर से उठा, कपड़े पहनकर घर से निकल पड़ा। करीब एक घण्टे का चक्कर लगाकर लौटा। थकान कहाँ उड़ गयी, पता ही न चला। कुएँ पर जाकर ठण्डे पानी से स्नान किया।

स्वर्ग सुख किसे कहते हैं, यह उस दिन मालूम हुआ।

पिताजी कहा करते थे, जब सुस्ती महसूस हो, कुदाली लेकर बगीचे में जाओ, पसीना बहने लगे तब तक काम करते रहो। सुस्ती नहीं रहेगी। श्रम ही है नींव जीवन की। बिना श्रम किये न अनाज पैदा होता है, न कपड़े बुने जाते हैं, न घर बन पाता है। हमारी मामूली से मामूली आवश्यकताएँ भी बिना श्रम के पूरी नहीं होतीं। फिर यह श्रम हम भले ही न करें। पर किसी न किसी को तो वह हमारे लिए करना ही पड़ता है। हमारे लिए दूसरे किसी को श्रम करना पड़े, इस बात की हमें शर्म मालूम होनी चाहिए।

पर आज की हमारी तथाकथित सभ्यता ने हमें बेशर्म बना दिया है। उसने ऐसा एक समाज बनाकर हमें दिया है, जिसमें एक ओर असंख्य लोगों को बेहद श्रम करना पड़ता है (और बदले में भूखे रहना पड़ता है) और दूसरी ओर ऐसे थोड़े लोग हैं, जो किसी तरह का श्रम नहीं करते (और बदले में बेहद कमाते हैं)। यह समाज-व्यवस्था अन्यायी है। हमें वह तोड़नी ही होगी। किस तरह हम वह तोड़ पाएँगे? उत्पादक श्रम को संस्कारी जीवन का एक प्रतिष्ठित अंग बनाकर। आदमी चाहे डॉक्टर हो, वकील हो, प्राध्यापक हो, लेखक हो, लीडर हो, उसे निश्चय करना चाहिए कि आज से 'कुदाली या फावड़ा लेकर बगीचे में जाऊँगा, रोज कम से कम एक घण्टा काम

करूँगा। उत्पादक श्रम में बिना पसीना बहाये अनाज का एक दाना भी पेट में जाने नहीं दूँगा।' सब इस तरह का निश्चय करें तो एक ओर हम राष्ट्रीय सम्पत्ति में कुछ न कुछ योगदान देते रहेंगे और दूसरी ओर समाज में कोई आलसी और सुस्त दिखाई नहीं देगा। सब मेहनत करेंगे। हमारे स्वभाव में भी बदलाव आएगा। और सबसे महत्त्व की बात—समाज में जो ऊँच-नीच का भेद-भाव दिखाई देता है, वह नष्ट हो जाएगा और सामाजिक समानता की ओर हम अग्रसर होते रहेंगे।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और संयम (ब्रह्मचर्य) को जीवनमूल्य मानने वाले विचारवान लोग समाज में हैं। इन जीवनमूल्यों को जीवन में व्रतों का स्थान देना चाहिए, यह कहने वाले ये लोग हैं। पर इन जीवनमूल्यों से भी अधिक महत्त्व का और एक व्रत है शरीरश्रम, जो न्यायोचित समाज-स्थापन करने का एक प्रभावी साधन भी है, यह क्या किसी ने हमें बताया है? यह जीवन का बुनियादी व्रत है। एक था, जो हमें यह बताया करता था। लेकिन उसको तो हमने सनकी-झक्की कहकर 'महात्मा' बना दिया और अपने से उसे दूर रखा।

देश की कितनी बड़ी हानि हुई है, इस बात का क्या किसी को कोई अन्दाज है?

24

राममोहन राय से लेकर राममनोहर लोहिया तक के सभी सुधारकों ने जातिप्रथा के लिए ब्राह्मणों को ही दोषी माना। सिर्फ गाँधीजी की लिखावट में उन्हें दोषी ठहरानेवाला एक भी शब्द मुझे नहीं मिला। मैंने काकासाहब (काका कालेलकर) से पूछा। वे बोले, ''जातिप्रथा के वे खिलाफ ही थे, पर वर्णव्यवस्था को वे वैज्ञानिक मानते थे। हर वर्ण का एक पेशा होता है। किसी को अपना पेशा छोड़कर दूसरे को अपनाने की जरूरत नहीं है। बढ़ई के बेटे को बढ़ईगिरी छोड़कर चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट बनने की कोई जरूरत नहीं है, बढ़ईगिरी नीच पेशा नहीं है, ऐसा उनका कहना था।''

मेरे प्रश्न का यह जवाब नहीं था।

मैंने दादा धर्माधिकारी जी से पूछा। उन्होंने कहा, ''हिन्दुओं के बीच ब्राह्मण हैं, बनिया हैं, जाट हैं, मराठा हैं, असंख्य जातियों के लोग हैं। हिन्दू कहीं नहीं है।''

यह भी मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं था।

फिर मैं अपने ढंग से उत्तर ढूँढ़ने लगा। मैंने महसूस किया, जातिप्रथा श्रेणीबद्ध यानी सीढ़ियोंवाली है। एक सीढ़ी पर दो जातियाँ नहीं होतीं। हर जाति या तो किसी से ऊपर होती है या किसी से नीचे। मान लीजिए, गाँव में बीस जातियाँ हैं। सब किसी न किसी सीढ़ी पर बैठे पाये जाएँगे। इनमें से पन्द्रहवीं सीढ़ी पर बैठी हुई जाति के

लोग ऊपर बैठी हुई पाँच जातियों की तीखी आलोचना करेंगे, उन्हें गालियाँ भी देंगे। पर नीचे की चौदह सीढ़ियों पर बैठे हुए लोगों से अपने को ऊँचा ही मानेंगे। दलितों के बीच भी यह सीढ़ियाँ हैं।

यानी सब जातियाँ ब्राह्मणी 'मनोवृत्ति' की हैं। दूसरों के मुकाबले में अपने को ऊँचा मानने वाली। हिन्दू समाज में एक ही जाति ऐसी है, जिसके नीचे दूसरी कोई जाति नहीं है। वह भी अपने से किसी को नीचे नहीं मानती। वह है, भंगियों की (सफाई कर्मचारियों की)। गाँधीजी ने इसी जाति को अपने अधिकार में ले लिया। उसके हाथ में झाड़ू था। वह सवर्णों के (खासतौर से ब्राह्मणों के) हाथ में देकर उनसे कहा, यह आइन्दा आपके पाखाने साफ नहीं करेगा।

और इस प्रकार उन्होंने जातिप्रथा की नींव ही हिलाने की कोशिश की।

विनोबा निपुण सफाई कर्मचारी (भंगी) बने थे। और अप्पा पटवर्धन तो सफाई कर्मचारी के साथ-साथ निपुण चर्मकार भी बने थे। और दोनों ब्राह्मण थे।

अभी-अभी ए. एल. भाशम् की 'वण्डर दैट वाज़ इण्डिया' पुस्तक लेकर बैठा था। सहज जिज्ञासा से उसमें दिया हुआ जातिप्रथा का इतिहास पढ़ने लगा। वे कहते हैं, पिछले साठ-सत्तर वर्षों से यह प्रथा धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है, इसके कारण हैं—

1. शिक्षा का व्यापक प्रचार। 2. सुधारकों का गहरा काम। 3. खुद दलितों में पैदा हुई जागृति और 4. देश का अपनाया लोकतन्त्र का आदर्श। But when Mahatma Gandhi persuaded his followers to sweep their own floors and clean their own latrines, he sounded the death knell of the old Hindu social order. लेकिन जब महात्मा गाँधी ने अपने अनुयायियों को घरों में झाड़ू लगाने और अपने पाखाने साफ करने के लिए प्रेरित किया तो जैसे उन्होंने परम्परागत हिन्दू समाज-व्यवस्था के सीने में कील ठोंक दिया।

एक बहुत बड़े इतिहासकार का यह कथन है।

इसका मतलब गाँधीजी केवल सुधारवादी नहीं थे, बल्कि उग्र सुधारवादी (redicalist) थे। यही होता है न!

25

थोरो की 'वॉल्डन' बरसों पहले पढ़ी थी। उसकी तफसील आज याद नहीं है। पर उसकी जो छाप दिमाग पर पड़ी थी वह अब भी कायम है।

अमेरिका के वॉल्डन सरोवर के पास एक जंगल में थोरो की अपनी जमीन थी।

वहाँ अपने हाथों उसने एक कुटिया बनायी और वहीं जाकर वह रहने लगा। वह कहता है, सीधा-सादा जीवन ही बढ़िया जीवन है। इस तरह का जीवन जीने की इच्छा हो जाए तो तुम्हारे हाथों में कुदाली अपने आप आ जाएगी। तुम जमीन पर अपने ही हाथों से काम करने लगोगे। अपनी जरूरतें तुम ही पूरी करने लगोगे। फिर तुम्हें अच्छी भूख लगेगी। भूख लगने पर सादा आहार बड़े चाव से खाने लगोगे। सेहत अच्छी रहेगी। नींद अच्छी आएगी। मन प्रसन्न रहेगा। चिन्तन-मनन गहराई से चलता रहेगा। और जो तुम लिखोगे वह बढ़िया ही साबित होगा।

दो साल वह इस तरह की मेहनत-मजदूरी करके जीविका चलाता रहा। साथ-साथ प्रकृति का निरीक्षण भी करता रहा। अपने इन दो सालों के निरीक्षण, मनन-चिन्तन पर आधारित उसने जो पुस्तक लिखी वही यह 'वॉल्डन' पुस्तक है।

बड़ी सुन्दर पुस्तक है!

वह कहता है—श्रमजीवन नीरस, कष्टकर, थकानेवाला होता ही नहीं, बल्कि बड़ा फुर्तीला होता है। जमीन बड़ी उदार है। तुम उस पर जितना श्रम करोगे, उससे सौ गुना अधिक वह तुम्हें देती रहेगी।

थोरो का यह प्रयोग करीब डेढ़ सौ साल पुराना है। मॉडेल के रूप में आज वह शायद हमारे काम न आए पर प्रकाशघर के रूप में उसे सामने रखकर हम अगला कदम अवश्य उठा सकते हैं। उत्पादक श्रम को हमारे जीवन में प्रतिष्ठा का स्थान मिलना ही चाहिए। यह जो कमर पर हाथ रखकर जीने का आदर्श पण्ढरपुर के विठोबा ने चलाया, वह 'अट्ठाईस युगों' तक चला। यह काफी है। अब उसे चलने नहीं देना चाहिए। कमर झुकाकर मिट्टी में हाथ डालकर काम करने के दिन अब आये हैं। विठोबा का आदर्श हम सफेदपोश लोगों ने अपनाया और हमारे अनुकरण में बाकी के सारे लोग परिश्रम के कामों को कमीने, नीचे, ओछे मानने लगे। अब विठोबा के अनुयायियों का समाज तोड़ना ही होगा, अब सफेदपोश लोगों को भी उत्पादक श्रम करके ही रोजी-रोटी कमाने का तरीका ढूँढ़ना होगा।

वॉल्डन फिर से पढ़ने की इच्छा हुई है। यही नहीं, थोरो के जैसे प्रयोग करके ऐसी ही एक नयी पुस्तक लिखने की इच्छा मन में पैदा हुई है।

26

हमें एक ऐसा समाज बनाना है जहाँ कोई बेकार नहीं रहेगा, सभी लोगों को काम मिलेगा। काम ढूँढ़ने की नौबत किसी पर भी नहीं आएगी और बिना काम किये कोई खाना नहीं खाएगा।

काम ऐसा मिलेगा जिसमें हमारी सभी कुशलताओं का अच्छा उपयोग होता रहेगा और काम करते-करते हमारी कुशलताओं का विकास भी होता रहेगा। काम करते समय हमें यह महसूस होता रहेगा कि जो कुछ हम कर रहे हैं वह सिर्फ अपने लिए नहीं, बल्कि समाज के धारण-पोषण व संवर्द्धन के लिए ही कर रहे हैं।

इसी तरह का काम आनन्दघन होता है, सृजनशील होता है।

काम सच्चा हो, अच्छा हो, काम करने वाले को शोभा देने वाला हो। कोई बेमन से सिर्फ गुजारे के लिए काम करे यह सभ्य समाज को शोभा नहीं देता।

27

एक अफसर बता रहे थे—''गोवा का कारोबार चलाने के लिए आठ या दस हजार कर्मचारी काफी थे। पर करीब पचास हजार कर्मचारी आज वह चला रहे हैं। भला, कारोबार कुशलता से कैसे चलेगा?''

मैंने कहा, ''आप उन्हें नौकरी से निकाल तो नहीं सकते। पर एक काम अवश्य कर सकते हैं। निहायत जरूरी कर्मचारियों को रखकर बाकी सबको निवृत्त तो कर ही सकते हैं। आप उन्हें बता दीजिए, आपको लेकर सरकार ने बड़ी गलती की। अब कृपया आप घर पर ही रहिए, आराम कीजिए या कोई मनपसन्द समाजोपयोगी काम स्वतन्त्र बुद्धि से करते रहिए। सरकार की तरफ से आपको अपनी तनख्वाह नियमित रूप से घर पर ही मिलती रहेगी। यहाँ आने का कष्ट आप न उठाएँ। आप आते हैं तब प्रशासन की कार्यक्षमता घटती है।''

मैंने बड़ी गम्भीरता से उन्हें यह सलाह दी थी। पर उन्हें लगा, मैं मजाक कर रहा हूँ। असल में जितने अधिक कर्मचारी, उतनी कम प्रशासन की कार्यक्षमता; यह दुनिया-भर का अनुभव ही मैं उन्हें बता रहा था।

अकसर सभी सरकारी कर्मचारी काम से भागते हैं। जहाँ तक सम्भव हो, काम टालते रहते हैं। टालना असम्भव हो तो दूसरों पर लादते हैं। यह भी सम्भव न हो तो बेगारों की तरह बेमन से काम करते हैं। और सत्ता-सम्पत्ति उन्हीं के हाथों में होने से सभी लोग उन्हीं की तरह सरकारी कर्मचारी बनना पसन्द करते हैं। गोवा में किसान का बेटा अब खेती का काम नहीं करता। क्लर्क की नौकरी कहीं न मिले तो प्यून तो बनता ही है। खेती करने में उसे शर्म मालूम होती है। पर उसे हम दोष कैसे दें? उत्पादक श्रम करने वाले को समाज में प्रतिष्ठा ही नहीं है। उन्हें मुआवजा भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता। और सभी देखते हैं कि जो उत्पादक श्रम बिलकुल नहीं करते वे ही समाज में ज्यादा कमाते हैं।

सभी मूल्य उलटे-पुलटे हो गये हैं।

हमने पैसों को हद से ज्यादा महत्त्व दिया, यही इसका कारण है। पैसों की तो खुद अपनी ही कीमत नहीं है। जो चीज पाँच साल पहले एक रुपये में मिलती थी वह चीज आज पन्द्रह रुपये में लेनी पड़ती है। लोग कहते हैं, वस्तुओं की कीमतें बढ़ गयी हैं। असल में पैसों की कीमत घट गयी है। और पैसों के अनुपात में आदर्शों की, जीवनमूल्यों की, चारित्र्य की, नीति की और देश की इज्जत-आबरू की भी कीमत घट गयी है।

28

हिमालय के केदारनाथ को हम शाम के करीब छः बजे पहुँचे थे। सर्दी कड़ाके की थी। कालीकमली वाले की धर्मशाला में मैं तीन कम्बल ओढ़कर पड़ा था।

कुछ समय में करन्दीकर जी दौड़ते मेरे पास आये। कहने लगे, "मन्दिर में आरतियाँ चल रही हैं। भक्ति का इतना बड़ा उद्रेक तुम्हें और कहीं देखने को नहीं मिलेगा। चलो, मैं तुम्हारे पाँव पकड़ता हूँ।"

करन्दीकर जी की उम्र मुझसे दुगुनी थी। धरासू से हमारी पैदल यात्रा शुरू हुई, उसी दिन से वे हमारे साथ थे। वे मेरे पाँव पकड़ें? बिस्तर से तुरन्त उठ, शाल ओढ़कर मैं मन्दिर की ओर चल दिया।

सचमुच वहाँ भक्ति का एक सागर उछल रहा था। दो-ढाई सौ लोग थे। 'जय जगदीश हरे' भजन गाकर तालियाँ बजाते-बजाते नाच रहे थे। मन्दिर में मूर्ति नहीं है। मूर्ति के बदले एक बड़ी शिला है। मस्ती में आकर सब उसका आलिंगन कर रहे थे। मेरी बगल में दुबली-पतली सफेद बालोंवाली एक बुढ़िया मस्त होकर तालियाँ बजाती-बजाती नाच रही थी। अचानक मेरी नजर उसकी आँखों की ओर गयी। उसे आँखें नहीं थीं।

मैंने उससे पूछा, "माताजी, आपको तो दिखाई नहीं देता! फिर इतने कष्ट उठाकर आप यहाँ क्या देखने आयी हैं?"

"मुझे भले ही दिखाई न दे, पर बेटे, उसे तो मैं दिखाई देती हूँ न ? उसकी नजर मुझ पर पड़े, बस, इसीलिए तो आयी हूँ!" उसने जवाब दिया।

मेरी कमर अपने आप झुक गयी और मैंने उसके पाँव छुए।

करन्दीकर जी गद्‌गद होकर हमारी ओर देख रहे थे। उन्होंने तुरन्त मुझे अपने बाहुपाश में ले लिया। उनकी खुशी एक तरह की थी, मेरी दूसरी तरह की।

29

जीभ के काम दो हैं। एक खट्टे, मीठे, कड़वे, तीखे रस चखना और दूसरा खट्टे, मीठे कड़वे, तीखे शब्द बोलना। उसके इन दोनों कामों पर नियन्त्रण जरूरी है। वरना, एक काम हमारी सेहत खराब कर देगा, तो दूसरा हमारे सम्बन्ध बिगाड़ देगा।

जीभ में हड्डी नहीं होती। बिना हड्डी वाली यह छोटी-सी जीभ नाजुक, कोमल, दुर्बल होने पर भी किसको रौंद देगी या किसका कतल करवा देगी, बताना मुश्किल है। द्रौपदी की जीभ ने अठारह अक्षौहिणी सेना का कत्लेआम करवा दिया था। जीभ की ताकत तलवार से भी बड़ी है।

जो दिल में होगा वही जीभ पर आएगा। दिल साफ होगा तो जीभ पर जो आएगा वह हमारे इर्दगिर्द का माहौल स्वर्ग के जैसा बना देगा। दिल गन्दा होगा तो यही माहौल नरक से बदतर हो जाएगा। हमारे इर्द-गिर्द हम स्वर्ग खड़ा करें या नरक, यह पूरी तरह जीभ पर निर्भर है।

पाँव भले ही फिसल जाए। मगर जीभ को बिलकुल फिसलने नहीं देना चाहिए।

उसे वश में ही रखना चाहिए।

30

ऋषिपुत्र गुस्से में शाप दे देता है। फिर जब कोई उसे बताता है कि तुमने यह गलत काम किया, उसे पछतावा होता है। पर वह कहता है, ''मैं क्या करूँ, अब तक मेरी जबान से कोई असत्य वचन नहीं निकला, इसलिए जो निकला है वह कभी व्यर्थ नहीं होगा। शाप तो उसे लगेगा ही। मगर मैं एक काम कर सकता हूँ। उसे उ:शाप देकर शाप से मुक्त कर सकता हूँ।''

पुराणों में ऐसे कई किस्से पढ़ने को मिलते हैं। कितनी जबरदस्त श्रद्धा थी इन लोगों की सत्य वचन पर!

किसका वचन व्यर्थ नहीं जाता? जो हमेशा सच बोलता आया है उसका। जो जरूरत से ज्यादा एक शब्द भी नहीं बोलता, आवश्यक हो तभी बोलता है, नाप-तौलकर बोलता है, राग-द्वेष आदि दुर्गुणों से परे होकर बोलता है, उसका।

वाचाशुद्धि की यही शक्ति है। इस शक्ति का हम सही उपयोग करें तो दुनिया बदलने के लिए हमें शस्त्रों की कोई आवश्यकता महसूस नहीं होगी।

31

पिछली आधी शताब्दी में देश में जहाँ पर भी गया वहाँ से एक-एक छोटा-सा पत्थर बिना भूले लेता आया।

ऐसे दर्जनों पत्थर मैंने इकट्ठा किये हैं।

अभी वाराणसी गया था। एक विद्वान मित्र के यहाँ ठहरा था। लौटने के दिन घाट पर जाकर गंगा-स्नान किया। वहीं घाट पर एक सुन्दर गोल पत्थर मिला। उठाकर जेब में डाल लिया। मित्र ने पूछा, ''जगह-जगह के पत्थर इकट्ठा करते हो क्या? कल सारनाथ से भी एक पत्थर तुम उठाकर ले आये थे।''

मैंने कहा, ''हाँ, जहाँ पर भी गया हूँ वहाँ से एक पत्थर उठाकर ले आया हूँ। समूचे भारतवर्ष के पत्थर मेरे पास हैं। अब बुढ़ापे ने मुझे पकड़ लिया है। अब शायद घूमना पहले के जैसा नहीं होगा। मेरे घर के सामने आम का एक पेड़ है; सोच रहा हूँ उसकी छाँव में एक चबूतरा बनाऊँ। उसमें यह सारे पत्थर डाल दूँ। उस पर संगमरमर की एक तख्ती लगाऊँ और उस पर 'अत्र भारतम् एकं नीडम्' शब्द खुदवा लूँ। घूमना जब बन्द हो जाएगा, तब उस पर रोज शाम को बैठकर देश के सभी स्थानों का स्मरण करता रहूँगा...''

''जवाहरलाल जी को भी यह आदत थी,'' उन्होंने कहा, ''आनन्दभवन में मैंने उनके इकट्ठा किये हुए कई पत्थर देखे हैं।''

''अच्छा ! मुझे मालूम नहीं था।'' मैंने कहा।

घर लौटते समय उन्होंने कहा, ''वाराणसी से मिट्टी का छोटा-सा बर्तन भी बाहर नहीं ले जाना चाहिए, यह नियम मालूम है न तुम्हें?''

''नहीं तो! किसने बनाया यह नियम?''

जवाब देने के बजाय उन्होंने पूछा, ''पावापुरी गये हो क्या ?''

''नहीं।''

''पावापुरी जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। वहाँ एक सरोवर है, उसमें एक मन्दिर है। उसे जलमन्दिर कहते हैं। महावीर का अन्तिम संस्कार इसी स्थल पर हुआ था। अन्तिम संस्कार के समय न केवल देश भर के लोग, बल्कि यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और देवता भी आये थे। वापस लौटते समय सभी यहाँ की एक-एक चुटकी मिट्टी ले गये। इससे वहाँ एक बड़ा गड्ढा बना। उसमें पानी भर गया जिससे यह सरोवर बन गया।''

पावापुरी की यह आख्यायिका बताकर उन्होंने कहा, ''वाराणसी हिन्दुओं का एक पवित्र स्थल है। पिछले कई युगों से लाखों हिन्दू हर साल यहाँ गंगास्नान के लिए आते रहे हैं। हर यात्री अगर यहाँ की चुटकी-चुटकी मिट्टी ले जाता तो यह स्थल गंगा में डूब न जाता?''

मैंने तुरन्त जेब से पत्थर निकालकर फेंक दिया।

उन्हें बुरा लगा। कहने लगे, ''पत्थर फेंक देने के लिए मैंने यह किस्सा तुम्हें नहीं सुनाया था।''

मैंने कहा, ''मैं जानता हूँ। पर यहाँ आने पर अपनी एकाध प्रिय वस्तु छोड़ देनी चाहिए, ऐसा भी एक नियम है न ? इस नियम के अनुसार बरसों की अपनी यह प्रिय आदत आज छोड़ देता हूँ।''

32

मनुष्य पशु भी है और देवता भी।

उसमें जो देवता है उससे उसे परिचित कराये बिना उसमें जो पशु है उसी से परिचित कराना गलत है।

देवता से उसे परिचित कराये और पशु से न कराना उससे भी बड़ी गलती है।

दोनों के बारे में उसे अनजान रखना सबसे बड़ी गलती है।

दोनों से उसे परिचित करा देना चाहिए। तभी वह तय कर पाएगा कि उसे कहाँ से कहाँ जाना है।

33

करीब-करीब सभी युवक वीरपूजक होते हैं। उनका जो 'हीरो' बनता है, प्रायः उसी की तरह वे चलने-बोलने लगते हैं।

अभी-अभी दिल्ली में एक सज्जन मिले। बिलकुल लोहिया मालूम होते थे। लोहिया जी वैसे ही थे। जो भी उनके प्रभाव में आता था, उसे वे पागल बना देते थे। मगर लोहिया जी की तरह चलने-बोलने से थोड़े ही कोई लोहिया बन सकता है। बनने की ख्वाहिश रखना निरा मिथ्याचार है।

एक जमाने में पुणे-मुम्बई की ओर कई साने गुरुजी देखने को मिलते थे। सर्वोदयी लोगों में अब भी कई विनोबा मिलते हैं। ये भी निरे मिथ्याचारी हैं।

मिथ्याचार के कई प्रकार हैं—

दूसरों के मन में हम अपनी एक प्रतिमा खड़ी करते हैं। वह ढह न जाए इस वास्ते हम जो सावधानी बरतते हैं, यह मिथ्याचार ही होता है। दूसरे हमें अच्छा मानें इस वास्ते भी हम जो सतर्कता बरतते हैं वह भी मिथ्याचार ही होता है। कल हम जो

कहते थे उसके विपरीत आज कहें तो दूसरों की दृष्टि में गिर जाने का डर रहता है। इसलिए कल की ही बात आज हम दुबारा कहते हैं, तब भी मिथ्याचार ही होता है।

समाज में जब चारों ओर मिथ्याचारी ही मिथ्याचारी दिखाई देते हैं, तब एक धीमी आवाज दिल में उठती है, 'भाई, तुम तुम हो, और कोई नहीं हो। जैसे हो वैसे ही दुनिया के सामने पेश आओ।'

34

फ्रांस के चन्द तत्त्वचिन्तकों ने एक मन्त्र देकर ऐलान किया, दुनिया में अगर अमन-अमान चलाना हो तो सभी लोगों को तीन मूल्यों को स्वीकार करना चाहिए : आजादी, बराबरी और भाईचारा। यानी—

1. आइन्दा राजाओं की सत्ता दुनिया में नहीं चलेगी। आम लोग अपने भविष्य के निर्माता होंगे। कोई किसी का गुलाम नहीं रहेगा।
2. आइन्दा कोई किसी से ऊँचा या किसी से नीचा नहीं माना जाएगा। सभी समान होंगे। सभी को समान अधिकार होंगे।
3. आइन्दा कोई किसी को पराया नहीं मानेगा। सब एक-दूसरे के भाई होंगे।

आज इस मन्त्र के उच्चारण से कोई आतंकित नहीं होता। पर जब पहले-पहल उसका उच्चारण हुआ, दुनिया उत्तेजित हो उठी थी, घबरा भी गयी थी।

फलस्वरूप पहली क्रान्ति फ्रांस में ही हुई। वहाँ की प्रजा ने अपने राजा की गर्दन ही छाँट दी। और प्रजा का राज वहाँ स्थापित किया। कुछ समय बाद की प्रतिक्रान्ति ने भले ही इस क्रान्ति को निगल डाला हो, पर आजादी की जो हवा वहाँ बहने लगी थी वह वहीं अवरुद्ध नहीं रही, सारे संसार में बहने लगी। आज संसार भर में राजाओं की सत्ता खत्म हो चुकी है। आजादी के खिलाफ बोलने की हिम्मत आज किसी में भी नहीं है।

बरसों बाद लेनिन का उदय हुआ। उसने न केवल रूस के जार की ही सत्ता खत्म कर दी, बल्कि वहाँ के पूँजीपतियों और जमींदारों की भी सत्ता उखाड़ फेंकी। और जो सबसे पीछे, सबसे नीचे श्रमजीवी लोग थे, उनकी सत्ता स्थापित की। आज भले ही रूस का विघटन हो गया हो, पर बराबरी का जो मूल्य उसने स्थापित किया उसके खिलाफ बोलने की हिम्मत आज दुनिया में किसी को भी नहीं होती। बराबरी अब दुनिया-भर में स्थापित मूल्य बन चुका है।

ये दोनों मूल्य स्थापित करने के लिए संसार में खून की नदियाँ बही हैं। इसलिए ऊपर-ऊपर से देखने पर दोनों असफल हुई-सी लगती हैं। पर क्या आजादी और बराबरी के मूल्य भी असफल हुए हैं?

दोनों आज सभ्य दुनिया के स्थापित मूल्य हैं।

अब बारी भाईचारे की क्रान्ति की है। यह क्रान्ति किस देश में होगी? भारतवर्ष में ही वह होगी। इतिहास-विधाता ने इस देश के लिए अगर कोई मिशन नियत कर दिया हो तो वह भाईचारे का मूल्य संसार में स्थापित करने का ही है। यह एक ऐसा देश है, जहाँ सभी वंशों, सभी धर्म-परम्पराओं, सभी रस्मरिवाजों के लोग रहते हैं। भाईचारे की साधना यही देश चला सकता है। यह महात्मा गाँधी का देश है।

आजादी और बराबरी की क्रान्तियाँ अन्धेपन की शिकार हुईं। भाईचारे की क्रान्ति में अन्धेपन के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है।

35

हमने जो पाया नहीं है, वही अकसर हम पाना चाहते हैं। सत्ता, सम्पत्ति, ख्याति हमने पायी नहीं है। हम सत्ता, सम्पत्ति, ख्याति पाना चाहते हैं।

और पाने पर सुखी होंगे, ऐसा मानते हैं।

पर जिन्होंने यह सब पाया है, क्या वे सुखी हैं? ढूँढ़ने पड़ेंगे दिनदहाड़े हाथ में लालटेन लेकर।

गोवा आजाद नहीं था, तब हम गोवा की आजादी के लिए लड़ते रहे। यह मानते रहे कि आजाद होने पर हम गोवा की शक्ल-सूरत ही बदल डालेंगे। बरसों के संघर्ष के बाद गोवा एक दिन आजाद हुआ। अब गोवा की आजादी को पचास वर्ष से ज्यादा हो चुके हैं। कहाँ तक उसकी शक्ल-सूरत हम बदल सके हैं? महज आजादी काफी नहीं थी। आजादी का उपयोग कैसे करना चाहिए, कौन-से रास्ते अपनाकर आगे चलना चाहिए, यह ज्ञान जरूरी था। वह किसी में नहीं था। फलस्वरूप, गोवा आजाद तो हुआ पर आजाद होते ही वह पाजी और बदमाश लोगों के हाथों में चला गया। उन्होंने गोवा की शक्ल-सूरत काफी बदल डाली। इतनी बदल डाली कि हम जो गोवा में ही पैदा हुए हैं, गोवा में ही रहते हैं, वे भी गोवा को आज पहचान नहीं सकते।

गोवा बिलकुल बदसूरत हो गया है।

देश के पास शस्त्रास्त्र नहीं हैं। देश की सुरक्षा के लिए हमारे पास अद्यतन शस्त्रास्त्र पर्याप्त मात्रा में होना निहायत जरूरी है। देश के पास अद्यतन विज्ञान तन्त्रज्ञान नहीं है। देश के विकास के लिए उसका भी होना बहुत जरूरी है। यह पाने के लिए हम हर साल अरबों रुपये खर्च करते हैं। और पैसे हमारे पास नहीं हैं इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्वबैंक जैसी विदेशी वित्तीय संस्थाओं से कर्ज लेते हैं।

मान लीजिए हमने यह सब पा लिया, तो क्या कश्मीर का मसला हम सही

ढंग से हल कर पाएँगे? आसाम के उग्रवादियों को शान्त कर सकेंगे? शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होने पर, और देश को विकास की चरम सीमा पर पहुँचाने पर भी हम यह नहीं कर सकते। इसे कर पाने के लिए जरूरत है राष्ट्रभक्ति की, राष्ट्रीय चारित्र्य की।

राष्ट्रभक्ति के और राष्ट्रीय चारित्र्य के संवर्धन के लिए समाज में धृति की आवश्यकता है। स्नेह की है। इसकी पूर्ति तभी होगी जब हम एक-दूसरे से आत्मीयता से पेश आएँगे, परस्पर विश्वास से चलेंगे। साथ लेकर चलने की सूझबूझ हम विकसित करेंगे। हमारे बीच के सभी अलगाव बुद्धिपूर्वक दूर करेंगे। तभी देश में अन्दरूनी एकता स्थापित होगी। फिर कोई हमारे बीच फूट नहीं डाल सकेगा।

सबको साथ लेकर चलने की सूझबूझ का ही देश में अभाव है। असल में उसी को पाने की सबसे अधिक कोशिश होनी चाहिए।

36

हम आलसी हैं। सिर्फ शरीर से ही नहीं, बुद्धि से भी।

हम आलसी किस वजह से बने? आबोहवा की वजह से? खान-पान की गलत आदतों की वजह से? या हमारे वेदान्त के गलत प्रस्थान की वजह से?

हमारे पुरखे आरम्भ में ही आत्मा की खोज में निकल पड़े और एक दिन वाकई उन्हें आत्मा मिल भी गयी। वह मिलते ही उन्हें लगा, अब जानने लायक कुछ भी नहीं रहा, एक आत्मा को जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है। और वे आत्मसन्तोष में रहने लगे।

हमारे बौद्धिक आलस्य का प्रारम्भ यहीं से होता है।

आत्मा की खोज में लगने पर परमात्मा की लगन अनिवार्य थी। वह भी उन्हें लग गयी। उन्हें मालूम हुआ, परमात्मा कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् शक्तिशाली है। संसार में जो भी कुछ बनता-बिगड़ता है, परमात्मा की इच्छा से ही होता है। पेड़ का मामूली पत्ता भी उसकी इच्छा के बिना हिल नहीं पाता। और वे ईश्वरनिष्ठ हुए।

ईश्वरनिष्ठा ने एक दिन दैववाद का रूप लिया। और वे कहने लगे, जो होनी है होके ही रहेगी। उसे टाल नहीं सकते। टालना बेवकूफी है। इसके उपसिद्धान्त के रूप में कर्मवाद का आविष्कार हुआ। और वे कहने लगे, कर्म के अनुसार ही फल मिलेगा। अच्छे कर्म का अच्छा, बुरे कर्म का बुरा। इसी में से पूर्वजन्म-पुनर्जन्मवाद आया। और इस जन्म के दुःखों को वे पूर्वजन्म के मत्थे मढ़ने लगे।

फलस्वरूप, अन्याय को देखकर हमारा खून खौलता नहीं। उसका मुकाबला करने की हमें इच्छा नहीं होती। हमारी बुद्धि भी नहीं चलती।

हमारे सारे वेदान्तों का अब पुनर्मूल्यांकन करना होगा। हो सकता है, हमारी

मान्यताएँ मूलतः गलत हों या सही, मान्यताओं के हमने गलत अर्थ लगाये हों। सब-कुछ साफ करके देखना होगा, वरना हमारे बौद्धिक आलस्य के नष्ट होने की कोई आशा नहीं है।

37

हमारे देश में एक ओर परम्पराएँ बनाये रखने की कोशिश में लगे हुए लोग हैं तो दूसरी ओर परम्पराएँ उड़ा देने की, नष्ट करने की बातें करने वाले भी लोग हैं। वे कहते हैं, हिन्दू परम्परा में बहुत कुछ सड़ गया है, बहुत कचरा इकट्ठा हुआ है। सब उड़ा देना चाहिए।

पर क्या यह सड़ा हुआ कचरा केवल हिन्दू परम्परा में ही है? मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिख परम्पराओं में वह नहीं है? और तो और आज की 'वैज्ञानिक' माननेवाली पश्चिमी परम्परा में, जिसका अनुकरण हम करते रहे हैं, सड़ा हुआ कचरा नहीं है? केवल हिन्दू परम्परा को उड़ा देने से काम नहीं चलेगा। सभी परम्पराओं को उड़ा देने का कार्यक्रम हाथ में लेना होगा।

हिन्दू परम्परा में सड़ाँध भर गयी है इसमें कोई शक नहीं। पर क्या इसी परम्परा ने दुनिया को श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द, गाँधी, रवीन्द्रनाथ जैसे युगपुरुष नहीं दिये हैं? बुद्ध भी इसी परम्परा की देन हैं। इसका मतलब यह है कि इस सड़ी हुई परम्परा में ऐसी भी कुछ बातें हैं जो बुद्ध, गाँधी जैसों को जन्म देती हैं। ये कौन-सी बातें हैं, ढूँढ़कर देखना चाहिए। वे ही बातें लोगों के सामने रखनी चाहिए। फिर हमारी परम्परा के सड़े हुए अंग अपने आप उड़ जाएँगे। रवीन्द्रनाथ कहते थे, "दीये की बाती ऊपर की ओर सुलग सकती है तो सुलगने की क्षमता उसके उस हिस्से में भी है जो नीचे तेल में डूबा हुआ है।"

किसी भी परम्परा की परीक्षा उसके सड़े हुए अंगों को देखकर नहीं, बल्कि उज्ज्वल अंगों को देखकर करनी चाहिए।

धर्मों का कब्जा धर्मपीठों ने लिया। धर्मपीठों ने धर्मगुरु तैयार किये, जो धर्मग्रन्थों को अर्थाने लगे। लोग इन्हीं अर्थों में उलझे रहे। फलस्वरूप खुद धर्म ही धर्मों के दुश्मन बन गये। फिर सेक्युलरिस्ट लोग उनके दुश्मन बने तो भला उसमें आश्चर्य क्या है? संस्कृति का कोई धर्मपीठ नहीं होता। न उसके कोई धर्मग्रन्थ होते हैं। वह किसी भी धर्मगुरु को मानती नहीं है। इसलिए सेक्युलरिस्ट लोग धर्म का स्थान संस्कृति को देना चाहते हैं।

पर संस्कृति तो धर्म के वृक्ष में लगे हुए फल का नाम है। वृक्ष ही काट डालेंगे

तो भला फल कहाँ होगा? वृक्ष अगर फलता-फूलता न हो तो उसकी जड़ें देखनी चाहिए। वहीं कोई रोग हुआ दिखाई देगा। इस रोग का इलाज करना चाहिए। पर यह काम करने के लिए हममें विवेक, तेजस्विता, संस्कारिता, निस्पृहता आदि गुण होने चाहिए।

मगर यह गुण धर्म ही हमें देते हैं, उसका हम क्या करेंगे?

38

मेरे एक मुसलमान मित्र हैं, बादशाह खान की परम्परा के। दिन में पाँच बार नमाज पढ़ते हैं। अरबी अच्छी जानते हैं। कुरान पर अधिकार वाणी से बोल सकते हैं। कुरान के जानकार उनकी राय की कद्र भी करते हैं। इन्हीं के चरणों में बैठकर मैंने तुलसी, सूर, मीरा, कबीर की रचनाएँ पढ़ी थीं।

एक बार बात-बात में उन्होंने मुझसे पूछा, ''मैं हिन्दू बनना चाहूँ तो तुम बना सकोगे?''

मैंने कहा, ''हिन्दू तो जन्म से ही होता है, जैसे पारसी और यहूदी। हिन्दू बनाया नहीं जा सकता। पर आर्यसमाजियों ने मुसलमान या ख्रिस्ती बने हुए पुराने हिन्दुओं को 'शुद्ध' करके हिन्दू बनाने का कार्यक्रम चलाया है। आप चाहें तो किसी से पूछ सकते हैं।''

''हिन्दू बनने के बाद वे लोग मुझे किस जाति में सम्मिलित करेंगे? बिना जाति का हिन्दू नहीं होता।''

मैंने पूछा, ''मुसलमान बनने के पहले आपका परिवार किस जाति का था?''

''मान लो शूद्र जाति का था।'' उन्होंने जवाब दिया।

मैं अवाक् रह गया। मन ही मन कहा, यह हिन्दू बनने के बाद अगर शूद्र ही रहते हैं तो इन्हें हिन्दू बनने-बनाने की जरूरत ही क्या है? भले रहें मुसलमान इज्जत के साथ तो जी पाएँगे।

कितनी बड़ी क्रान्ति की राह देख रहा है हिन्दू समाज, खयाल है हिन्दुत्ववादियों को?

39

सावरकर पन्थी लोग लगातार यह कहते आये हैं कि—

1857 के विद्रोह का अँग्रेजों के मन में इतना डर पैठ गया कि उन्होंने इस तरह

का दूसरा विद्रोह देश में कभी उभर ही न पाये, इसलिए लोगों के पास जो हथियार थे, सब छीन लिये और देश को निःशस्त्र बना दिया। हिन्दुस्तान में अपनी हुकूमत बराबर बनी रहे, इस दिशा में उनका यह पहला कदम था।

हथियार छीनने के लिए वे किसी के पास होने चाहिए थे। किसके पास थे ?

देश में एक समाज-व्यवस्था चलती आयी थी, जिसे हम चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था कहते हैं। बुद्ध ने उसे अपने ढंग से तोड़ने की कोशिश की थी। बुद्ध का समय ख्रिस्त पूर्व छठी शताब्दी का है। यानी अँग्रेज इस देश में आये, उससे पहले ढाई-तीन हजार सालों से यह व्यवस्था इस देश में चल रही थी। इस समाज-व्यवस्था ने समाज का चार वर्णों में विभाजन किया था और हर वर्ण के काम नियत कर दिये थे। इसके अनुसार ब्राह्मणों के काम थे अध्ययन करना, अध्यापन करना, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना, दान देना, दान लेना। ये लोग अपने पास हथियार क्यों रखते ? वैश्यों का काम था दान, यज्ञ और अध्ययन के अलावा खेती, गोरक्षा, व्यापार और साहूकारी। इनको भी हथियारों की कोई जरूरत नहीं थी। शूद्र बेचारों के पास था ही क्या कि वे अपने पास हथियार रखते। उनका नियत काम था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की चुपचाप 'सेवा' करना।

हथियार थे क्षत्रियों के पास। पर समाज के अनुपात में उनकी संख्या बिलकुल नगण्य थी। ब्राह्मण, वैश्यों से थोड़े ज्यादा भले हों। असल में उनकी भी गणना ब्राह्मण, वैश्यों की तरह अल्पसंख्यकों में ही होती थी।

असल में देश को निःशस्त्र करने का काम बरसों पहले हमारे पूर्वजों ने ही किया था। अँग्रेजों ने तो केवल उनका अधूरा काम पूरा किया था।

40

समाज की नजर से गिरना नहीं चाहिए, इसकी सावधानी हर कोई बरतता आया है।

समाज कभी-कभी हमें सही स्वरूप में पहचान नहीं पाता। कभी-कभी हमारे बारे में तरह-तरह की गलतफहमियाँ सँजोये रहता है। पर हम अगर अपने आपसे ईमानदार रहें, तो गलतफहमियों की परवाह नहीं करेंगे। दुःखी हरगिज नहीं होंगे। हम कहेंगे, गलतफहमियाँ चाहे जितनी फैली हुई हों, वह कायम नहीं रह पाएँगी। दूर हो जाएँगी। हमारा दिल जब तक हमें कहता है कि 'तुम जो कर रहे हो वही सही है' तब तक हम अपने दिल के अनुसार ही चलते रहेंगे। बावजूद गलतफहमियों के सीना तानकर ही चलते रहेंगे।

पर मान लीजिए, समाज हमारी कद्र करता हो और अपने ही मन में हम गिर गये हों—दिल कहता हो, तुम जो कर रहे हो वह गलत है, तुम्हें वह शोभा नहीं देता

तो सीना तानकर क्या हम कभी चल पाएँगे ? हम कहेंगे, भले ही लोग हमें बड़ा मानें, हम छोटे हैं, घटिया हैं। और सिर झुकाकर ही चलेंगे।

इसका मतलब यही हुआ न, कि समाज से हम दिल को ज्यादा मानते हैं!

41

उन्हें गुस्सा आया। गुस्से में वे अनाप-शनाप बोलने लगे। मैंने कहा, ''भाई, हम विचारों की दुनिया में अल्पमत वाले लोग हैं। गुस्सा हमें महँगा पड़ सकता है।''

समाज तब्दीलियाँ नहीं चाहता। ईश्वर ने जिस स्थिति में हमें रखा है उसी स्थिति में खुशी से रहना लोगों का स्वभाव है। हमारे तब्दीलियाँ लाने के काम वे देखते हैं तब उन्हें लगता है, ''ये लोग हमें नाहक मुसीबत में ढकेल रहे हैं।'' और वे हम पर गुस्सा करते हैं।

उन्हें गुस्सा करने दो, हम अपना दिमाग शान्त रखें।

चाणक्य की सेना ने उसे छोड़ दिया। शत्रु पक्ष से वह जा मिली। चाणक्य का दिमाग शान्त रहा। वह कहने लगा, ''जाने दो जो जाना चाहता हो। मेरी बुद्धि मेरे साथ रहे, बस, इतना मेरे लिए काफी है।'' बुद्धि अपने पास रहनी चाहिए। स्थिर रहनी चाहिए।

सेवाग्राम में बापू की कुटिया में गत्ते पर लिखकर दीवार पर लटकाया हुआ एक सुविचार है—When you are in right you can easily afford to keep your temper. And when you are not you cannot afford to loose it.(जब आप सही हों, तो आप अपने पर नियन्त्रण रख सकते हैं। मगर जब आप खुद गलत हों तो ऐसा नहीं कर सकते।) सेवाग्राम की कुटिया का सबसे बड़ा सन्देश यही है।

42

किसी ने कहा है—We are all on an assignment. (हम सभी किसी कार्य-योजना के तहत आये हैं।)

हमेशा रहने के लिए हम यहाँ नहीं आये हैं। घर बसाकर रहने की योजनाएँ हम नहीं बना सकते। सैलानियों की तरह आठ-दस दिनों की अय्याशी के लिए भी हम नहीं आये हैं। हम अपने दिन यूँ ही बरबाद नहीं कर सकते।

एक खास काम लेकर हम आये हैं। वह पूरा करने के लिए एक मुद्दत भी हमें दी गयी है। इस मुद्दत में काम पूरा करके हमें वापस लौटना है। खर्च के लिए भी हमें

जिन्दगी के अमुक साल मंजूर किये गये हैं।

पृथ्वी पर का हमारा जीवन एक तरह का 'बिजनेस ट्रिप' है।

43

मृत्यु के बाद लोग अगर तुम्हें भूल जाएँ तो तुम्हारे बड़प्पन में क्या बड़प्पन रहा? मृत्यु के बाद भी लोगों को तुम्हारा स्मरण होते रहना चाहिए। मृत्यु के बाद भी तुम्हारा प्रभाव लोगों पर रहना चाहिए। तुम्हारी प्रेरणा बरसों तक कार्यरत रहनी चाहिए।

कम से कम साहित्यकार को तो यह अभिलाषा रखनी ही चाहिए। अपनी कलम से ऐसा कुछ निकल आए जो अगली आठ-दस पीढ़ियाँ पढ़ती रहें, यह अभिलाषा अगर साहित्यकार में न हो तो उसे साहित्य के क्षेत्र में दखलअन्दाजी करने का क्या हक है ? भले ही वह 'गीता' या 'वॉर एण्ड पीस' जैसा महत्त्व का कुछ न लिख सके, पर 'गुलिवर्स ट्रावल्स' की योग्यता का तो कम से कम लिखना चाहिए। उसे भी वह नहीं लिख पाता।

हमारा साहित्य भी हमारे जीवन जैसा उथला और छिछला है।

44

एक मित्र ने कहा, ''तुकाराम पढ़ो।''

मैंने कहा, ''मैंने पढ़ा है। वे ऐसी ऊबड़-खाबड़ मराठी लिखते थे कि वैसी मराठी आज के स्कूल का बच्चा लिखे तो परीक्षा में पास नहीं होगा।''

वे कहने लगे, ''उनकी भाषा की ओर क्या देखते हो, उनकी ओर देखो।''

मैं चुप रहा।

अभी-अभी उन्होंने एक और पुस्तक मुझे दी। कहने लगे, ''बहुत सुन्दर पुस्तक है। तुम्हें पसन्द आएगी।''

मैंने लेखक का नाम पढ़ा। पुस्तक लौटाकर मैंने कहा, ''मुझे यह पुस्तक नहीं पढ़नी है। मैं लेखक को बरसों से जानता हूँ। यह विकृत आदमी है। बिलकुल घटिया है।''

कहने लगे, ''उसकी ओर क्यों देखते हो, भाई। उसने जो लिखा है, वही देखो।''

इस बार भी मैं चुप रहा।

45

वैचारिक साहित्य दो तरह का होता है।

एक, जो समस्याएँ हमारे सामने रखकर उनके हल ढूँढ़ने के लिए हमें मजबूर करता है। और दूसरा, जो समस्याओं के हल ढूँढ़ने के लिए हमें सिर्फ मजबूर ही नहीं करता, बल्कि कुछ न कुछ कृति करने के लिए हमें प्रेरणा देता है।

पहला, बाँहदार कुरसियों पर बैठे विचारकों का साहित्य है। दूसरा, रणक्षेत्र में खड़े कृतिशील विचारकों का है।

हमारे हाथों ऐसे वैचारिक साहित्य की निर्मिति हो, जो पढ़ने पर कोई चैन से बैठ न सके, चैन से सो भी न सके। लेकिन ऐसे साहित्य का निर्माण हमारे हाथों तभी होगा जब हम रणक्षेत्र में कृतिशील रहेंगे। बाँहदार कुरसी पर बैठकर तो हम लोगों का वैचारिक मनोरंजन ही करेंगे।

46

हम अकेले होते हैं तभी कुछ सृजन कर पाते हैं। सृजन की प्रक्रिया अकेलेपन में शुरू होती है, और अकेलेपन में ही पूर्ण होती है।

लेकिन हमारा विकास अकेलेपन में नहीं होता। वह समुदाय में ही होता है। समुदाय में रहकर ही अकेले कैसे रहें, यह सीखना चाहिए।

वरना हम सनकी, झक्की हो जाएँगे।

47

हमारा लिखा हुआ साहित्य हमारे जीवनकाल में ही प्रकाशित हो जाए, यह इच्छा स्वाभाविक भले ही हो, पर 'खानदानी' साहित्यकार के लिए नाजायज है। हमारा साहित्य हमारी मृत्यु के बाद बरसों तक पढ़ा जाएगा, बस, इसे श्रद्धा से लिखते रहना चाहिए। वह समय की सारी सीमाएँ लाँघकर आगे जाएगा। और कभी न कभी प्रकाशित भी होगा।

उत्कट और उत्कृष्ट साहित्य की संसार ने कभी उपेक्षा नहीं की है।

काफ्का की कोई रचना उनके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हुई थी। उनकी मृत्यु के बाद ही दुनिया का ध्यान उनकी ओर गया। फेर्नान्दु पेस्सोअ के जीवनकाल में उनकी

सिर्फ एक ही पुस्तक प्रकाशित हुई थी। आज जो उनके नाम से दर्जन-डेढ़ दर्जन पुस्तकें मिलती हैं, सब उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई हैं। आज तो वे अब तक के पुर्तुगाली कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाने लगे हैं। हिन्दी जगत में यह 'भाग्य' गजानन माधव मुक्तिबोध के हिस्से आया। और हमारे कोंकणी जगत में शणै गोंयबाब के हिस्से आया। फर्क इतना ही है—शणै गोंयबाब की दस-पन्द्रह पुस्तकें उनके जीवनकाल में प्रकाशित हुई थीं। पर उनकी मृत्यु के बाद ही वह पढ़ी जाने लगीं। यही नहीं, उनके बाद की पाँच पीढ़ियों को प्रेरणा देती रहीं। आज कोंकणी भाषा को राष्ट्र के जीवन में जो कुछ स्थान मिल सका है, उसका सारा श्रेय इन पाँच पीढ़ियों के उनके 'शिष्यों' को जाता है।

अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराने की जल्दबाजी हमें नहीं करनी चाहिए। प्रकाशित न हो पायीं तो मायूस भी नहीं होना चाहिए।

बस लिखते रहना चाहिए।

48

चन्द लोगों की लिखावट दो बार पढ़ने पर भी समझ में नहीं आती। सम्भवतः वे लिखना ही नहीं जानते। विषय चाहे जितना कठिन हो, सरल बनाकर लिखा जा सकता है। शॉपेनहावर या बर्ट्रेण्ड रसेल जिन विषयों पर लिखते थे, वे सरल नहीं बल्कि बड़े जटिल होते थे। फिर भी जटिल विषय कितने सरल बनाकर हमारे सामने रख देते थे!

और वे साधारण लोगों के लिए नहीं, बल्कि अपने ही स्तर के विद्वानों के लिए लिखते थे।

जटिलता काव्य में चल सकती है। गद्य में उसकी पोल खुल जाती है। गद्य की शैली सरल, प्रांजल, सादी होनी चाहिए। सूर्य के प्रकाश के जैसी, जिसमें इन्द्रधनुष के सातों रंग हों, पर एक भी रंग दिखाई न दे। नदी या समुद्र किनारे, बाजार में, बस स्टॉप या रेलवे स्टेशन पर गपशप लगाते समय जिस शैली में हम एक-दूसरे से बोलते हैं, उसी शैली में बड़े-बड़े दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करनी आनी चाहिए।

सरल लिखना सरल नहीं है। सरल लिखने के लिए काफी साधना करनी पड़ती है। स्थँदाल का 'द स्कार्लेट एण्ड द लॅक' उपन्यास यही सरल शैली का आदर्श सामने रखकर लिखा गया है। किसी ने उसकी शैली का वर्णन किया है—No fine phrases, no heroics, no broad sweeps of imaginative writing, but a story told in the languge men use in talking to each other by fireside. (इसमें चुटीले मुहावरे नहीं हैं, बहादुरी का वर्णन नहीं, न सर्जनात्मक शैली का चमत्कार है, मगर जिस भाषा

में यह लिखा गया है, लगता है जैसे अलाव के आसपास बैठे लोग बातें कर रहे हों।)

तॉलस्ताय भी इसी तरह की सरल प्रांजल शैली में लिखते थे। 'वार एण्ड पीस' 'अन्ना कैरेनिना', 'हाजी मुराद', 'डेथ ऑफ इवान इलीच', 'द डॅविल' जैसे छोटे-बड़े उपन्यासों की शैली गपशप की ही शैली है। यही नहीं, इसी शैली में उन्होंने द किंगडम ऑफ इज़ विदीन यू, वॉट देन शैल वुड डू' जैसे नींद खराब करनेवाले गम्भीर, विचारशील ग्रन्थ भी लिखे हैं।

गम्भीर और विचारशील ग्रन्थ वे इस शैली में कैसे लिख सके? 1. कलम हाथ में लेने से पहले उन्होंने अपने विषय पर काफी गहराई से सोचा था। 2. विषय दिमाग में साफ होने के बाद ही लिखना शुरू किया था और 3. 'मेरी समझ में जो बात आती है वह दूसरों की समझ में समझाने पर आनी ही चाहिए' इस लगन के साथ लिखा था।

कलम हाथ में लेने के पहले तीन बातों का स्पष्ट ध्यान होना चाहिए। 1. मैं क्या लिखने जा रहा हूँ? 2. किनके लिए यह लिख रहा हूँ? और— 3. क्यों लिख रहा हूँ?

यह स्पष्ट हो तो शैली अपने आप सरल और प्रांजल बन जाएगी।

49

इसमें कोई शक नहीं कि लिखने के लिए स्फूर्ति की आवश्यकता है। लेकिन वह अपने-आप नहीं आती। उसकी एक शर्त होती है। वह कहती है, तुम लिखना शुरू कर दो, मैं आ जाऊँगी। अगर मेरे आने पर ही तुम लिखना शुरू करने की सोचते रहोगे तो तुम्हारा लिखना शुरू होने तक मैं प्रतीक्षा करती रहूँगी।

अभी-अभी उसने अपनी और एक शर्त मुझे बता दी। उसने कहा, साहित्य का कोई बड़ा काम हाथ में लेने से पहले इसे हाथ में लेना है या नहीं, इस पर गहराई से सोचो। यह तय होने के बाद कि लेना ही है, उसे पूरा करने का निश्चय करो। फिर चिन्ता की कोई बात नहीं रहेगी। वह काम ही तुम्हें अपने हाथ में ले लेगा। और वही तुम्हें व्यस्त रखेगा। तुम्हें चैन से बैठने नहीं देगा। काम पूरा होने पर ही वह तुम्हें अपनी शर्त से मुक्त करेगा।

50

लिखने की कइयों को आदत पड़ जाती है। और आदत तो हमेशा एक तरह की जंजीर ही होती है, जो हमें जकड़कर रखती है।

मेरे एक रिश्तेदार सरकारी नौकर थे। रोज सुबह नहा-धोकर कपड़े पहनकर दफ्तर जाया करते थे। करीब तीस साल उन्होंने यह नौकरी की। बाद में सेवानिवृत्त हुए। दफ्तर छूट गया। पर रोज सुबह नहा-धोकर दफ्तर के कपड़े पहनने की उनकी आदत नहीं छूटी। दफ्तर के कपड़े पहनते, घर में ही एकाध घण्टा चक्कर लगाते, बाद में दफ्तर के कपड़े उतारकर घर के पहन लेते।

पावलोव्ह जिसे 'कण्डिशण्ड रिफ्लॅक्स' कहता था, उसकी यह एक मिसाल है।

लेखकों को भी ऐसी ही आदत पड़ जाती है। लिखने के नियत समय पर वे लिखने बैठ जाते हैं। खास कुछ कहने की बात न होने पर भी जब वे लिखने बैठते हैं तब कुछ न कुछ आ ही जाता है। और 'अनुभवी' लेखक होने से वे जो लिखते हैं, वह छपकर भी आता है।

वस्तुत: यहीं लेखक को सचेत हो जाना चाहिए। लिखना उसे अपना कर्तव्य होने नहीं देना चाहिए। न ही व्यसन बनने देना चाहिए।

सन्तोष की बात यह है कि हम जो लिखते हैं वह लोग पढ़ते ही हैं, ऐसा नहीं है। कई लेखक तो जीते-जी पुराने हो जाते हैं। लोग उन्हें भूल भी जाते हैं। हमारे पश्चात् हमारा क्या रहेगा, बताना मुश्किल है। सुना है, रवीन्द्रनाथ को भी अपने पश्चात् अपना क्या रहेगा, इसकी फिक्र होने लगी थी। और 'साहित्य शायद न रहे, संगीत अवश्य रहेगा' इस तरह का एक आश्वासन उन्होंने पा लिया था। वॉल्तेयर ने उत्कटता के साथ जो लिखा, सब बड़े-बड़े पुस्तकालयों में बन्द पड़ा है। मगर मनबहलाव के लिए 'कान्दीद' जैसी पुस्तक लिखी थी, वह अब भी बड़े चाव से फ्रांस में पढ़ी जाती है। इसलिए हमारे साहित्य में से क्या रहेगा, इसकी चिन्ता हमें छोड़ देनी चाहिए और अपने सन्तोष के लिए (स्वान्त:सुखाय) लिखते रहना चाहिए। फिर, चाहे वह कोई पढ़े या न पढ़े।

लेखक को कब रुक जाना चाहिए? जब तक उसे 'द बेस्ट इज़ यट टू कम' (अभी बेहतर आना बाकी है) महसूस होता रहे, तब तक लिखते रहना चाहिए। मेरे पास अब खास कुछ रहा नहीं है, यह महसूस होते ही रुक जाना चाहिए।

51

गेटे अपने समय का सबसे बेजोड़ जर्मन साहित्यकार था। उसने जो कुछ लिखा, सब बढ़िया सिद्ध हुआ। बढ़िया कविताएँ, बढ़िया नाटक, बढ़िया उपन्यास, बढ़िया यात्रा वर्णन। उसने अपनी बहुत बढ़िया आत्मकथा लिखी है। उसके करीब तेरह हजार पत्र प्रकाशित हुए हैं, बढ़िया से बढ़िया। अपने अप्रकाशित साहित्य के सम्पादन में वह

जुटा हुआ था, कि एक दिन एक्करमान नाम का एक साहित्यप्रेमी युवक उसे मदद करने के लिए उसके यहाँ आकर रहने लगा था। उसकी गेटे से बीच-बीच में बातचीत होती रहती। यह बातचीत बाद में वह चुपचाप लिखकर रख देता था। गेटे की मृत्यु के बाद इसकी एक किताब बनी। अँग्रेजी में 'कन्वर्सेशन्स विथ गेटे' नाम से वह उपलब्ध है। नीत्शे के अनुसार जर्मन भाषा की यह सबसे उत्तम पुस्तक है। कभी-कभी एकाध भाषा में ऐसा कोई साहित्यकार पैदा होता है, जो साहित्य की सारी फसल वही अकेला काटकर ले जाता है। दूसरों के लिए वह खेत में महज कुछ दाने ही छोड़ जाता है। गेटे इस कोटि का साहित्यकार था। फलस्वरूप, उसके पश्चात् बरसों तक जर्मन भाषा में गेटे जैसा कोई बड़ा कवि, बड़ा उपन्यासकार, बड़ा नाटककार पैदा नहीं हुआ। एक ही क्षेत्र था, जिसको गेटे ने स्पर्श नहीं किया था। वह था फिलॉसॉफी का, दर्शनशास्त्र का। इसी एक क्षेत्र में गेटे के पश्चात् जर्मनी में हीगेल, काण्ट, शॉपेनहावर जैसे बड़े-बड़े दार्शनिक पैदा हुए।

लेकिन, कहते हैं, मनुष्य के तौर पर गेटे बड़ा आत्मकेन्द्रित था। वह स्वार्थी, अहम्मन्य, ईर्ष्यालु था। दूसरों से नफरत करनेवाला था। किसी को वह ऊपर चढ़ने नहीं देता था। इत्तफाक से कोई ऊपर चढ़ा तो उसे जलन होती थी और उसे नीचे खींचने की कोशिश में वह लगा रहता।

सॉमरसॅट मॉम ने गेटे पर एक निबन्ध लिखा है। उसमें गेटे के सब गुण-दोष उसने बताये हैं। और अन्त में कहा है, ऐसे लोगों को सिर्फ उनके साहित्य में ही देखना चाहिए। उनके नजदीक जाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। हम हतोत्साह या निराश हो सकते हैं। और अपनी बात समझाने के लिए उसने कहानी के रूप में एक उदाहरण दिया है—

एक राजकुमारी थी। बहुत ही सुन्दर। पर उसे किसी ने शाप दिया था : तुम सूरज के गढ़ में बन्दिनी बनकर रहोगी। तुम्हें पाने के लिए अपने प्राण न्यौछावर करके कोई तुम्हारे पास पहुँच जाएगा, तभी तुम मुक्त हो सकोगी। कइयों ने कोशिशें कीं। कोई सफल नहीं हुआ। आखिरकार एक राजकुमार उसके पास पहुँच ही गया। पर उसे देखकर राजकुमार को सदमा पहुँचा । सुन्दरी के बाल पक गये थे। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। आँखें मानों किसी गहरे कुएँ में पड़ी हों, ऐसी लगती थीं। उसने राजकुमारी से पूछा, "क्या तुम वही हो, जिसे पाने के लिए दुनिया-भर के राजकुमार तरस रहे थे?" "हाँ, वही हूँ।" राजकुमारी ने जवाब दिया और कहा, "तुम जिन आँखों से मुझे देखते हो वह तुम्हें मेरा सच्चा स्वरूप नहीं दिखा सकेंगी। इस शीशे में देखो।" शीशे में वाकई उसे बहुत सुन्दर एक अप्सरा दिखाई दी।

मॉम का कथन ठीक ही है। साहित्यकार को उसके साहित्य में ही देखना चाहिए। उसके नजदीक कभी नहीं जाना चाहिए।

52

अँग्रेजी भाषा, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि के विकास के लिए सरकार क्या कोई अकादमी चलाती है? मैंने तो एक भी अकादमी का नाम नहीं सुना है। अकादमियाँ चलती हैं देशी भाषाओं, देशी साहित्य, संगीत, नाटक, नृत्य आदि के विकास के लिए। इन्हें चलाने के लिए सरकार खर्च भी अरबों रुपये का करती है। पर क्या एक भी अकादमी ठीक चलती है? किसी में भी प्राण नहीं दिखाई देता।

अँग्रेजी के लिए कोई अकादमी नहीं चलती। फिर भी अँग्रेजी भाषा, साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटक सब कुछ छलाँगें मारकर आगे जाता दिखाई देता है।

क्या कारण हो सकता है? इस देश के मध्यम वर्ग के लोगों का मानस ही अँग्रेजी का गुलाम है। यही एक कारण है। वरना साहित्य अकादमी, गाँधी स्मारक निधि, गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान जैसी संस्थाओं का कारोबार अँग्रेजी में हर्गिज न चलता। और तो और, गीता उपनिषद् जैसे हमारे ही धर्मग्रन्थों पर स्वामी चिन्मयानन्द जैसे हमारे ही 'गुरु' हमारे ही लोगों को अँग्रेजी में उपदेश न देते।

देशी संस्कृति की बेहद स्तुति करना और अँग्रेजी संस्कृति का बेशर्म अनुकरण करना मध्यम वर्ग के लोगों की खासियत है।

अँग्रेजों से लेने लायक बहुत कुछ था। जापान ने लेने लायक सब कुछ ले लिया। पर जो लिया उसको जापानी रूप देकर लिया। अपनी संस्कृति का एक भी अंग उसने नहीं छोड़ा। हम भी ऐसा कर सकते थे। जो भी लेने लायक था उसको भारतीय बनाकर ले सकते थे। पर हमने जो लिया, अनुकरण करके ही लिया।

हमने नक्कालों (imitators) की एक जाति देश में निर्माण की है। गाँधीजी कहा करते थे—no country can become a nation by producing a race of imitators.(नक्कालों को पैदा करके कोई भी देश राष्ट्र नहीं बन सकता।) इन नक्कालों की मदद से हम देश को इंग्लैण्ड, अमरीका का सांस्कृतिक उपनिवेश जरूर बना सकते हैं, स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं बना सकते।

यह अनुकरण देश के लिए बहुत महँगा सिद्ध हुआ है।

53

स्त्री को हम अबला कहते आये हैं और अबला का मतलब 'निर्बल' होता है, ऐसा मानते हैं।

पर अभी-अभी अबला के दूसरे ही एक अर्थ की ओर किसी ने ध्यान दिलाया।

अबला यानी जिसके बल का अन्दाज लगाना मुश्किल हो।

उसकी तुलना जड़ों से की गयी है। जड़ें कोमल होती हैं। ऊबड़-खाबड़ हाथों में वह टूट जाती हैं। उन्हें अपने ढंग से बढ़ने देना चाहिए। फिर कठोर पाषाण तोड़कर उसमें से भी वह पानी बहाने लगेंगी। पथरीली जमीन मुलायम बना देंगी। मरुस्थल में झरने बहा देंगी। पानी मिले तब तक जमीन में गहरी पैठती रहेंगी।

स्त्री में ये सब गुण हैं। वह भी कठोर पाषाण जैसे हृदयों में प्रेम के झरने बहा देती है। पराये घर को वह अपना बना लेती है। वह निर्बल है इसलिए वह अबला नहीं; बल्कि उसके बल का अन्दाज लगाना मुश्किल है इसीलिए वह अबला है।

फिर, उसके हाथ में देश का कारोबार सौंप देने में हम क्यों हिचकिचाते हैं ? सौंप दीजिए देश उसको। वह देश की शक्ल-सूरत ही बदल डालेगी।

54

कई देशप्रेमी कहते हैं, ''पश्चिम के प्रभाव में आकर हम अपनी परम्पराएँ खोने लगे हैं। हमें अपनी परम्पराओं को सुरक्षित रखना चाहिए। उन्हें बनाये रखना चाहिए।''

कौन-सी परम्पराएँ हम खोने लगे हैं और कौन-सी हमें बनाये रखनी चाहिए, यह तो कोई नहीं बताता।

परम्पराएँ बनाये रखने के क्या हमने कम प्रयत्न किये हैं!

प्रागैतिहासिक काल से इस देश में चारों ओर से अलग-अलग वंशों के लोग आते रहे और आकर यहीं बस गये। अपने साथ वे अपनी-अपनी भाषाएँ, अपने-अपने धर्म-विचार, अपने-अपने रस्म-रिवाज, अपनी-अपनी सामाजिक परम्पराएँ लेकर आये थे। इनके बीच संघर्ष होना अपरिहार्य था। शुरू-शुरू में हुए भी। पर अन्त में जब उन्हें इस बात की प्रतीति हुई कि संघर्ष से कोई सवाल हल नहीं होता, उन्होंने तय किया, ''आइन्दा हम आपस में संघर्ष नहीं करेंगे। अपने-अपने दायरे में अपने-अपने ढंग से रहेंगे। कोई किसी के दायरे में दखलअन्दाजी नहीं करेगा।'' और उन्होंने एक अनोखी जीवन-पद्धति विकसित की, जिसमें से जातिप्रथा का उदय हुआ।

जातिप्रथा को बनाये रखने के लिए हमने क्या-क्या नहीं किया! इसके यहाँ खाना नहीं खाना चाहिए, उसके यहाँ पानी नहीं पीना चाहिए; इसको छूना नहीं चाहिए, उसकी छाया अपने पर पड़ने नहीं देनी चाहिए, इस तरह के सख्त नियम बनाये। इन नियमों की संहिताएँ भी बनायीं और 'धर्मशास्त्र' के नाम से वह प्रतिष्ठित भी कीं।

नतीजा क्या हुआ ? जिन लोगों को हमने दूर रखा था उन्हें दूसरों ने अपना लिया। वे उनके हो गये।

परम्परा ने हमें बड़ी ही सुन्दर एक भाषा दी थी। उसको हमने सँवारा, परिमार्जित किया। उसका साहित्य समृद्ध किया। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति जैसे बड़े-बड़े साहित्यकार इस भाषा में लिखने लगे थे! एक दिन हमें यह महसूस होने लगा कि इस भाषा का शुद्ध उच्चारण अब्राह्मण लोग नहीं कर पाते। उनके मुँह में वह प्रदूषित और कलुषित होती है। हमने तुरन्त नियम बना लिया—ब्राह्मणों को छोड़कर किसी की भी जबान पर वह नहीं चढ़नी चाहिए। यही नहीं, बल्कि ब्राह्मणों को छोड़कर वह किसी के कानों में भी नहीं पड़नी चाहिए।

नतीजा? ब्राह्मणों को छोड़कर बाकी के लोग अनपढ़ और अज्ञानी रहे। बाहर के लोग यहाँ आये और उन्होंने इन लोगों को अपनी भाषाएँ सिखलायीं और अपने परिवार में उन्हें शामिल कर दिया।

और यह संस्कृत जो समृद्ध भाषा थी, मृत भाषाओं की पंक्ति में जा बैठी।

परम्परा से हमें एक धर्म मिला था, जिसका न कोई खास संस्थापक था, न कोई खास धर्मपुस्तक थी, न कोई खास कर्मकाण्ड था। वह सर्वसमावेशक था। उपासना पद्धति के सम्बन्ध में उदार था। भिन्न-भिन्न लोगों को अपनी गोद में लेने की वह क्षमता रखता था। उसको 'सुरक्षित रखने के लिए' हमने क्या किया? देश के बाहर जाएँगे तो धर्म का पालन नहीं कर पाएँगे, इसलिए बाहर जाना ही हमने बन्द कर दिया। समुद्र-यात्रा निषिद्ध मानी।

नतीजा ? बाहर के लोग यहाँ आये और उन्होंने यहाँ के लोगों को अपने धर्म देकर उन्हें हमसे अलग कर दिया।

हमने अपनी परम्पराएँ बनाये रखने के लिए जो कुछ किया है, सबके उल्टे नतीजे आये हैं।

एक शख्स ने हमें बुलन्द आवाज में कहा था, ''परम्पराओं का संरक्षण करना है न, तुमको? तो खोल दो अपने सभी दरवाजे, सभी खिड़कियाँ। बहने दो दुनिया की सभी संस्कृतियों की हवाएँ अपने इर्दगिर्द। तुम्हारी परम्पराएँ बनाए रखने लायक जो होगा, वह इस खुली हवा में बना रहेगा। उसे रहने दो। जो उड़ जाने लायक होगा उसे उड़ जाने दो। तुम्हारे पास दुनिया को देने लायक जो कुछ है, इसी खुली हवा में देते रहो। दूसरों से लेने लायक जो है, वह भी इसी खुली हवा में लेते रहो। बस, एक बात ध्यान में रखो, किसी संस्कृति के झोंके से अपने आपको झकोरने मत दो।''

क्या इस शख्स का नाम बताने की जरूरत है?

आज क्या होता है? परम्पराओं को बनाये रखने के प्रयास में हम अपनी सारी संकीर्णताओं को बनाये रखने की कोशिश करते हैं। जो छोड़ने लायक है, उसी से चिपककर रहते हैं।

विवेक के लिए हमारे प्रयासों में कोई गुंजाइश ही नहीं नजर आती।

55

जो काम हमें नहीं करना चाहिए उसे जब हम करते हैं तब लोग कहते हैं, ''यह तुम्हें बिलकुल शोभा नहीं देता।''

यानी नीति की ओर लोग सौन्दर्य की दृष्टि से ही देखते हैं।

तो क्या नीति सौन्दर्य का ही दूसरा नाम है?

56

कइयों की भूत, प्रेत, पिशाच, शैतान आदि पर श्रद्धा होती है। यह श्रद्धा नहीं, बल्कि अन्धश्रद्धा है। विवेक की कसौटी पर परखने से वह खरी नहीं उतरती।

ईश्वर में दुनिया-भर के करीब-करीब सभी लोगों की श्रद्धा होती है। यह भी एक तरह की अन्धश्रद्धा ही है। पर विवेक की कसौटी पर परखकर इसे झूठ सिद्ध करना बड़ा मुश्किल है।

अन्धश्रद्धा से बदतर अन्ध-अश्रद्धा है।

पर समाज में ऐसे भी श्रद्धावान लोग होते हैं, जो कहते हैं, ''समाज में चाहे जितना झूठ चले, मैं तो सत्य से ही चिपककर रहूँगा। असत्य से चाहे जितना लाभ होता हो, मैं उससे हमेशा दूर ही रहूँगा। सत्य के कारण मेरा चाहे जितना नुकसान हो, मैं सत्य कभी नहीं छोड़ूँगा। अन्त में सत्य की ही विजय होती है, होनी चाहिए।''

वह श्रद्धा भले ही अन्ध हो, उसे बढ़ावा मिलना ही चाहिए, उसे दृढ़ करना चाहिए।

इन्हीं की वजह से दुनिया चलती है।

57

एक आदमी के बारे में सुना, ''यह एक बड़ा चरित्रवान आदमी है।''

''यानी कैसा?'' मैंने पूछा।

''प्रभु रामचन्द्रजी के जैसा। परायी स्त्री की ओर कभी विकारी दृष्टि से नहीं देखता।'' मुझे जवाब मिला।

मैंने इस आदमी को अधिकार के एकाध टुकड़े के लिए सत्ताधीशों के सामने दुम हिलाते खड़ा कई बार देखा है।

चरित्रवान आदमी को स्वाभिमानी भी होना चाहिए, तेजस्वी होना चाहिए,

सत्यवाक् होना चाहिए। वह झूठ कभी नहीं बोलेगा, किसी को भी धोखा नहीं देगा, किसी की कमजोरी का फायदा नहीं उठाएगा। चरित्रवान ऐसा होना चाहिए। वह व्यवहार में साफ होगा। करोड़ों रुपये उसे सौंप दें, वह कभी एक पैसा भी नहीं छूएगा। वह न्यायी होगा। अन्याय दीख पड़ने पर विद्रोह के लिए उठ खड़ा होगा। उससे गलती हुई हो तो 'मुझसे गलती हुई' कहने का उसमें नैतिक बल होगा। हाथ में लिया हुआ काम बीच में कभी छोड़ नहीं देगा। वह विवेकी होगा। अनुभव और कल्पनाएँ, कल्पनाएँ और आदर्श इनके बीच का फर्क समझने वाला होगा। वह बुद्धिमान होगा। चाहे कितने ही ऊँचे स्थान पर बैठा हो, 'मुझसे बड़े लोग संसार में कई हैं' यह मानने वाला होगा। छोटे आदमी को भी अपने समान मानेगा। संकटों, दु:खों, अड़चनों से कभी आतंकित नहीं होगा।

चारित्र में ऐसी कई चीजें आती हैं। इन सबको नजरअन्दाज करके महज यौन सम्बन्धों को ही महत्त्व देना चरित्र के आदर्श को संकुचित बनाने जैसा है, यह हमारे ध्यान में अभी तक नहीं आया है। यही हमारे राष्ट्रीय चरित्र की सबसे बड़ी कमजोरी है।

58

हम समझते हैं, हम बेजोड़ हैं, अद्वितीय हैं। असल में कोई बेजोड़ नहीं होता। कोई अद्वितीय नहीं होता। हम अन्य जैसे ही होते हैं और सभी हमारे ही जैसे होते हैं।

गुण-दुर्गुण सभी में एक-से होते हैं।

क्या कोई त्यागी व्यक्ति में हमने कोई भोगी व्यक्ति नहीं देखा है? आदर्शवादी में कोई व्यवहारदक्ष दिखाई नहीं दिया है? अहम्मन्य में नम्र आदमी नहीं देखा? और नम्र माने जाने वाले में कोई अहम्मन्य नहीं देखा? डरपोक में बहादुर और बहादुर में डरपोक नहीं देखा ? हर एक के अन्दर उसके कई रूप छिपे हुए रहते हैं। उसका कौन-सा रूप कब सिर ऊँचा करेगा, बताना मुश्किल है। हम पाषाण की मूर्तियाँ थोड़े ही हैं। जिन्दा लोग हैं। किसी भी जिन्दा आदमी को स्वार्थी, दुष्ट, प्रमादी, अहम्मन्य, नम्र, बहादुर, डरपोक आदि विशेषण हम नहीं लगा सकते। वॉल्ट विटमैन ने जब I contain multitudes कहा था, तब वह सिर्फ अपनी बात नहीं कर रहा था, सबकी कह रहा था।

क्या हमने अपने आपका कभी निरीक्षण करके देखा है? दिन के प्रकाश में देखना शायद मुश्किल हो। क्योंकि प्रकाश में हम तरह-तरह के संकल्पों-विकल्पों में उलझे रहते हैं। इसे रात के समय करना चाहिए। एक नींद पूरी करके जब हम

बाथरूम जाने के लिए जागते हैं तब करना चाहिए। यही समय इस निरीक्षण के लिए बढ़िया है। उस समय हमारा सुप्त मन जागता है और जिन्दगी-भर उसने जो अन्दर दबा रखा था, सब कुछ ऊपर ले आता है। तटस्थता से अगर हम अपने आपको निहारने लगें, तो हम अन्दर से कितने घटिया, स्वार्थी, दुष्ट, दम्भी, भ्रष्ट, अहम्मन्य, खोखले हैं इस बात का हमें अन्दाज होगा। जैसे हम दिन में दिखाई देते हैं वैसे हम नहीं हैं। अन्दर से हम दूसरे ही हैं, इसका एहसास उस वक्त होगा। अन्दर का हमारा यह रूप बाहर के रूपों के जैसा ही सच्चा होता है। जब हम अपने इस रूप को देख पाएँगे तभी दूसरों को समझ पाएँगे। फिर हम किसी की निन्दा नहीं कर पाएँगे।

हम बेजोड़ और अद्वितीय हैं, यह हमारा भ्रम टूट जाएगा।

59

भारतीय संस्कृति किन लोगों के योगदान से समृद्ध हो सकी है?

हमारे पूर्वजों ने एक समाज-व्यवस्था बनाकर हमें दी थी। इस व्यवस्था के अनुसार उन्होंने समाज के चार हिस्से किये और हर हिस्से के लोगों को कुछ काम नियत कर दिये। और सबको कहा, हर कोई अपना-अपना नियत काम करता रहे। नियत काम के बाहर के काम करके आम लोगों का कोई बुद्धिभेद न करे।

इस नसीहत को लेकर अगर सब चलते तो क्या भारतीय संस्कृति समृद्ध हो पाती?

अब देखिए—

परशुराम भृगु के पुत्र थे। भृगु ब्राह्मण थे। परशुराम अगर अपने वर्णकर्मों से ही चिपककर रहते तो क्या अस्त्रविद्या इस देश में विकसित हो पाती? वसिष्ठ उर्वशी के पुत्र थे। और उर्वशी (मुझे माफ कीजिए) इन्द्र की रखैल थी। वसिष्ठ अपने वर्णकर्मों के ही अनुसार चलते तो क्या ऋग्वेद का सातवाँ मण्डल हमें मिल पाता? व्यास सत्यवती के पुत्र थे। और सत्यवती धीवर कन्या (मछुआरा जाति की) थी। व्यास अपने जाति के नियत काम ही करते रहते तो क्या महाभारत, भागवत जैसे ग्रन्थ हमें मिल पाते? नारद ऐसे घर के बेटे थे जिनका परम्परागत पेशा शराब बनाना और शराब बेचना था। नारद यह काम छोड़ न देते, तो क्या भक्तिशास्त्र हमें मिल पाता?

हमारी लोक संस्कृति जिन्होंने समृद्ध की वे मध्य युग के सन्त, जिन्हें वर्णव्यवस्था ने 'नीच योनि' का माना था, उन्हीं में से थे। कबीर जुलाहा थे, रविदास चर्मकार, सदना कसाई था, धन्ना जाट था, सेना नाई, नाभाजी डोम थे और दादू पिंजारा थे।

भारतीय संस्कृति समृद्ध हो पायी उन्हीं के योगदान के कारण जिन्होंने अपनी जातियाँ या तो छोड़ दी थीं या चातुर्वर्ण्य ने जिन्हें 'नीच जाति' का माना था।

60

वर्धा के हमारे आश्रम में एक बार मार्जरी बहन साइक्स आयी थीं। 'बुनियादी तालीम' में वह बहुत दिलचस्पी रखती थीं। शाम की प्रार्थना का समय हुआ तब काकासाहब ने उनसे कहा, ''आज प्रार्थना में आप कोई ख़िस्ती भजन गाएँगी तो हमें बड़ी खुशी होगी।'' मार्जरी बहन When I survey the wondrous cross on which the Prince of Glory died वाला भजन भावविभोर होकर गाने लगीं। मैं पहली ही बार यह भजन सुन रहा था। बड़ा प्रभावित होकर सुनने लगा।

जब उन्होंने—

See from His head His Hands, His Feet
Sorrow and Love flow mingling down
Did ever such Love and Sorrow meet;
Or thorns compose so rich a crown?

ये पंक्तियाँ गायीं तब मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। ईसा के सिर पर एक काँटों का मुकुट, जो हजारों बार देखा था, आज मुझे दुनिया के किसी भी बड़े सम्राट के मुकुट से सचमुच समृद्ध दिखाई देने लगा। इतने में उन्होंने अन्तिम पंक्तियाँ गायीं।

Were the whole realm of nature mine
That were an offering far too small
Love so amazing, so divine
Demands my soul, my life, my all.

तब हृदय से मैं सौ प्रतिशत ईसाई बन चुका था।

वर्षों पहले का यह अनुभव है। आज भी जब मैं यह भजन सुनता हूँ, भावविभोर हो उठता हूँ। और मेरी आँखों से उस दिन जैसे ही आँसू बहने लगते हैं।

गोवा के ईसाइयों के बहुत निकट सम्पर्क में आया। मैं उन्हें हमेशा कहता आया हूँ, ईसा आपके हैं, पर केवल आपके नहीं हैं, मेरे भी हैं। मेरे हृदय में बैठकर वे मुझे हमेशा प्रेरणा देते आये हैं। मैं जी-जान से चाहता हूँ कि ऐसी ही प्रेरणा वे सभी हिन्दुओं को देते रहें। पर खेद है, यह प्रेरणा वे दे नहीं पाते। क्यों ?

मैं उन्हें एक किस्सा सुनाता हूँ—

मेरी भानजी की बेटी जहाँ पढ़ती है उसी स्कूल में उसकी एक ईसाई सहेली भी पढ़ती है। 'गुड फ्रायडे' के दिन वह मेरी भानजी के यहाँ आयी और कहने लगी, आज हमलोग अपने ईश्वर के देहावसान पर गिरजाघर जाकर खूब रोये।''

''तुम्हारा ईश्वर कौन है?'' मेरी भानजी ने उससे पूछा।

''मेरा ईश्वर अँग्रेज ईश्वर ईसा मसीह है।'' उसने जवाब दिया।

''ईसा मसीह तो मेरे भी ईश्वर हैं।'' मेरी भानजी ने कहा।

''जरूर होंगे, क्योंकि तुम भी तो अँग्रेजी बोलती हो।''

(जाहिर है यह बातचीत अँग्रेजी में हुई।)

ईसा हिन्दुओं के नहीं हो पाते, इसका कारण उनका यह अँग्रेज भगवान वाला रूप है। लोगों को लगता है वह बाहर के हैं, हमें बहकाकर, धोखा देकर ईसाई बनाने आये हैं। कपटी हैं।

या तो ईसा को यूरोप के प्रभाव से मुक्त करना होगा या ईसा को ईसाई धर्म से पृथक् करना होगा। वरना ईसा कभी भी इस देश के नहीं हो पाएँगे।

61

देश में हजारों किस्म की जातियों का होना उसका दारिद्र्य नहीं, बल्कि वैभव है। उसकी कमजोरी नहीं, बल्कि शक्ति है, ऐश्वर्य है, महत्ता है।

वनप्रेमी कहते हैं, वन में एक ही किस्म के नहीं, बल्कि हजारों किस्म के दरख्त लगाने चाहिए। तभी वन समृद्ध बनता है। अच्छा फूलता-फलता है। सुन्दर और प्रसन्न दीखता है।

इन्द्रधनुष में सात रंग होते हैं। सातों एक-दूसरे से मिले-जुले रहते हैं। इसीलिए वह सुन्दर मालूम होता है। संगीत में सात सुर होते हैं। सातों के संयोग से ही तरह-तरह की राग-रागिनियाँ बन पाती हैं, जिन्हें हम संगीत कहते हैं। एक रंग का इन्द्रधनुष नहीं बनता। वैसे ही एक सुर का संगीत नहीं बनता।

हिन्दुस्तान 'सारे जहाँ से अच्छा' इसलिए हो सकता है क्योंकि इस देश में हजारों वंशों, हजारों जातियों, हजारों धर्म-परम्पराओं, हजारों रस्म-रिवाजों, हजारों भाषाओं के लोग रहते हैं।

बस। उन्हें एक-दूसरे से संवादी बनकर रहने की कला आत्मसात करनी होगी।

हिन्दुस्तान का यही ध्येय होना चाहिए। तभी वह दुनिया का पथप्रदर्शक बन पाएगा।

62

सभी धर्मों ने कहा है, 'दुश्मनों से प्यार करो, पड़ोसियों से भी करो...।' किसी धर्म ने 'अन्याय के सामने विद्रोह में खड़े रहो और उसका प्रतिकार करो, कहा है क्या?'

'परित्राणाय साधूनाम्' होना ही चाहिए। पर वह 'विनाशाय च दुष्कृताम्' के साथ ही चलना चाहिए। जो धर्म अन्याय का प्रतिकार करने की बात नहीं करता वह अधूरा धर्म है।

63

रिश्ते केवल खून के ही नहीं होते।

पति-पत्नी का रिश्ता खून का नहीं होता। पर खून के किसी भी रिश्ते से वह अधिक गहरा होता है। मित्रों के बीच खून का रिश्ता नहीं होता। पर वह भी खून के रिश्ते से गहरा होता है।

रिश्ते का सम्बन्ध खून से अधिक स्नेह से है। और स्नेह का दायरा हम चाहे जितना बड़ा कर सकते हैं, विस्तृत कर सकते हैं। करना भी चाहिए।

रिश्तों को माँ-बाप, भाई-बहन या ऐसे ही दस-बीस या पचीस-पचास खून के सम्बन्धों में ही सीमित रखना गलत है।

64

प्रकृति का हर-एक अंग पूर्ण है।

घास की पत्ती पूर्ण है। नारियल का पत्ता भी पूर्ण है।
तुलसी का पौधा पूर्ण है। बरगद का पेड़ भी पूर्ण है।
फूल पूर्ण है। फूल से आया हुआ फल भी पूर्ण है।
माँ पूर्ण है। बच्चा भी पूर्ण है।
क्योंकि 'पूर्ण' ही प्रकृति का मूल तत्त्व है।
पूर्ण से पूर्ण ही निष्पन्न होता है।

65

अन्धविश्वास निर्मूलन का जो आन्दोलन देश में चल रहा है, वह कहाँ तक सफल हुआ है? हम पढ़े-लिखे लोगों की यह एक बुद्धिजीवी विलासिता तो नहीं है? आजकल मुझे यह महसूस होने लगा है कि हम लोगों को अपना प्रचार-तन्त्र बदलना चाहिए।

महाराष्ट्र में कुछ समय पूर्व तक गाडगेबुवा नाम के एक सत्पुरुष लोगों के बीच काम कर रहे थे। किसी गाँव में पहुँच जाते तब सबसे पहले वे झाड़ू से रास्ता साफ करते थे। लोगों को भी झाड़ू लगाने की प्रेरणा देते थे। फिर जब प्रवचन शुरू करते तब धर्म के नाम पर जो बेवकूफियाँ समाज में चल रही हैं, उन्हें खोलकर लोगों के सामने रखते। उनका यह अन्धविश्वास निर्मूलन का ही काम था। प्रवचन समाप्त होते ही 'देवकीनन्दन गोपाला' कीर्तन गाते हुए लोगों को साथ में लेकर नाचने लगते। लोगों को लगता, 'यह सत्पुरुष है, हमारा आदमी है, जो कुछ कहता है हमारे भले का ही होता है।'

या तो इस रास्ते पर हमें चलना चाहिए या फ्रांस में वॉल्तेयर ने जो रास्ता अपनाया था, वह रास्ता अपनाना चाहिए।

वॉल्तेयर ने अन्धविश्वासों का विरोध करने के बदले उनकी हँसी उड़ायी थी। ईसाई चर्च ने जितने भी दम्भ, पाखण्ड, अन्धविश्वास यूरोप में चलाये थे, सबका हँसी मजाक उड़ाकर ही उन्होंने लोगों के दिमाग से उन्हें उखाड़ फेंक दिया। विल ड्युरण्ट ने उनके बारे में लिखा है, 'इटली में रेनेसाँ का आन्दोलन चला, जर्मनी ने रिफॉर्मेशन पर काम किया। मगर फ्रांस ने सिर्फ वॉल्तेयर पैदा किया। और इस एक आदमी ने रेनेसाँ रिफॉर्मेशन के साथ-साथ रिवोल्यूशन भी चलाया और देखते ही देखते फ्रांस की शक्ल-सूरत बदल डाली।'

वॉल्तेयर की हँसी-मजाक वाली शैली आत्मसात करना आसान नहीं है। आनातॉल फ्रांस को अपनी सारी जिन्दगी खर्च करनी पड़ी इस शैली का कुछ अंश आत्मसात करने के लिए। उनकी पैंग्विन आयलैण्ड, कोंकणी में लाने की कोशिश कर रहा था। काम बड़ा ही मुश्किल महसूस हुआ। वॉल्तेयर का अनुवाद तो असम्भव ही मालूम हुआ। उसकी शैली बड़ी प्रभावशाली थी। तलवार से भी ज्यादा तेज।

दोनों में से एक रास्ता हम अपनाएँगे तभी कुछ कर पाएँगे, वरना हमारा अन्धविश्वास निर्मूलन का काम बुद्धिजीवी-विलासिता ही रह जाएगा।

66

साहित्य का नोबेल पुरस्कार 1913 में रवीन्द्रनाथ को मिला था। 1913 के बाद अब तक वह किसी को नहीं मिला। इसका मतलब क्या यह है कि इस पुरस्कार के योग्य 1913 के बाद कोई साहित्यकार देश में पैदा नहीं हुआ? यह पुरस्कार हर साल दुनिया में किसी न किसी को मिलता रहता है। उनमें से कइयों की रचनाएँ हमने अँग्रेजी

में पढ़ी भी हैं। उनकी योग्यता के दर्जनों भारतीय साहित्यकार के नाम हम सुना सकते हैं।

लोग कहते हैं, हमारे साहित्यकार अपनी-अपनी भाषाओं के दायरों में रहे, उनकी रचनाओं के अँग्रेजी में अनुवाद होते तो नोबेलवालों का ध्यान उनकी ओर जाता। हमारी इस कमी की पूर्ति के रूप में आजकल चन्द प्रकाशन संस्थाएँ आगे आयी हैं, जो भारतीय साहित्यकारों की चुनी हुई रचनाओं के अँग्रेजी अनुवाद करवाकर प्रकाशित करती हैं। वाकई यह एक प्रशंसनीय प्रयास है।

पर मान लीजिए, वायकम मुहम्मद बशीर की रचनाओं के अँग्रेजी अनुवाद हम स्वीडिश अकादमी के पास भेज दें और नोबेल पुरस्कार के लिए उनके नाम की सिफारिश करें, और स्वीडिश अकादमी हमसे पूछे—भारत के कितने लोग इनकी रचनाओं को पढ़ते हैं तो हम क्या जवाब देंगे? मलयालम भाषा-भाषियों को छोड़कर मैं नहीं मानता कि दूसरी किसी भारतीय भाषाओं में बशीर पढ़े जाते हों। जिस साहित्यकार को उसके देश के ही लोग न जानते हों, उसकी कद्र बाहर के लोग भला क्यों करेंगे?

देश की प्रमुख भाषाओं के साहित्यकारों की अच्छी-अच्छी रचनाओं के अनुवाद देश की ही भाषाओं में करवाकर लोगों के सामने रखने का एक उपक्रम चलाना अब नितान्त आवश्यक हो गया है।

विक्रम सेठ के 'द सूटेबल ब्वॉय' की बेहद प्रशंसा होने लगी। तॉलस्तॉय के 'वॉर एण्ड पीस' उपन्यास से उसकी तुलना होने लगी; दो करोड़ रुपयों की उन्हें रॉयल्टी मिली। तब मन में एक शंका पैदा हुई। क्या यह अँग्रेजियत के शागिर्दों की चालबाजी तो नहीं है?

अँग्रेजियत के आद्य ऋषि लॉर्ड मैकॉले ने भारत का प्रशासन चलाने के लिए 'देसी अँग्रेज' निर्माण करने की फैक्टरियाँ खोली थीं, जिन्हें अँग्रेजी शिक्षण प्रणाली के विश्वविद्यालय कहते हैं। शर्त एक ही रखी थी, इस फैक्टरी से बाहर निकलनेवाले माल की चमड़ी चाहे जिस रंग की हो, उसकी अभिरुचि अँग्रेजी होनी चाहिए। अँग्रेजियत का दूसरा प्रभावी साधन ईसाई चर्च था। लोगों को ईसाई बनाना उसका सिर्फ एक बहाना था। असली काम अँग्रेजियत को फैलाना और दृढ़ करना था। आज चर्च का यह उपयोग नहीं किया जा सकता। चर्च का स्थान अब हजारों एन. जी. ओ. (नॉन गवर्नमेण्ट ऑर्गनाइजेशनों) ने ले लिया है। यह अँग्रेजियत के नये गिरजाघर हैं। इनके अलावा बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देश में आ गयी हैं, जो अँग्रेजी जाननेवालों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ देती हैं। इन सबकी मदद के लिए मैकॉले की फैक्टरियाँ बड़े जोरों से काम करती हैं। पचास हजार पुस्तकें देश में हर साल प्रकाशित होती हैं। उनमें से पच्चीस हजार पुस्तकें अँग्रेजी की होती हैं। पच्चीस हजार में से आधी तो अमेरिका

और इंग्लैण्ड की पुस्तकों के देशी संस्करणों की होती हैं। अँग्रेजी पुस्तकों का भारत एक बहुत बड़ा बाजार बन गया है। ढाई सौ विश्वविद्यालय, आठ हजार कॉलेज, साढ़े तीन हजार रिसर्च इन्स्टिट्यूट जो देश में चलते हैं, सब अँग्रेजियत के छोटे-बड़े चैपेल्स (प्रार्थना घर) हैं।

साहित्य का क्षेत्र अलग रह गया था। उसे भी अब तरह-तरह के प्रलोभन दिखाये जाने लगे हैं। विक्रम सेठ, अरुन्धती रॉय, सलमान रुश्दी आदि के नाम हमारे सामने रखकर 'देखो, कितना यश, कितनी ख्याति, कितनी रॉयल्टी इनको मिलती है। देशी भाषाओं में लिखकर आपको क्या मिलता है ?' यह हमारे गले उतारने की कोशिशें तो शुरू नहीं हुई हैं ? इनमें से एकाध को कभी नोबेल पुरस्कार दिया गया तो मुझे कतई अचरज नहीं होगा। सभी शक्तियाँ भारत को इंग्लैण्ड, अमेरिका का सांस्कृतिक उपनिवेश बनाने के ही काम में लगी हैं।

डॉ. राममनोहर लोहिया की बहुत याद आती है। वही एक शख्स थे, जो इस सांस्कृतिक आक्रमण के प्रतिकार में देश को जगाने की क्षमता रखते थे।

67

फ्रॉयड कहा करता था, मनुष्य जो भी कुछ करता है उसकी बुनियाद में कामवासना की पूर्ति की भावना मुख्य होती है।

मार्क्स कहता था, मनुष्य जो कुछ करता है वह अर्थवासना की पूर्ति के लिए करता है। 'प्रॉफिट मोटिव' की प्रेरणा उसे तरह-तरह के कामों के लिए प्रवृत्त करती है।

हमारे पूर्वजों ने काम और अर्थ दोनों वासनाओं का महत्त्व समझ लिया था। चार पुरुषार्थ के अपने आदर्श में दोनों को उन्होंने सम्मान का स्थान भी दिया था। दोनों प्रेरणाओं को उन्होंने दो 'पुरुषार्थ' माना था।

पर वे यह भी जानते थे कि दोनों असुर जाति की प्रेरणाएँ हैं। दोनों को मुक्त छोड़ेंगे तो वह मनुष्य को मनुष्य बनने नहीं देंगी। उसे दानव बना देंगी। इसलिए उन्होंने इन दोनों को तीसरे एक पुरुषार्थ के नियन्त्रण में रख दिया। और इस तीसरे पुरुषार्थ का नाम 'धर्म' रखा।

धर्म यानी अच्छे-बुरे को पहचानने और दोनों में से अच्छे को अपनाने की विवेक-बुद्धि। काम का भी सेवन हो, अर्थ का भी हो पर किसी की हानि न हो पाये। खुद अपनी भी हानि न हो, इस तरह से उनका सेवन हो, यही उद्देश्य रखा।

पर वे यहीं नहीं रुके। उनका ध्यान मनुष्य स्वभाव के और एक अंग की ओर गया। उन्होंने देखा, मनुष्य चाहे किसी काम में उलझा हुआ हो, उसका असली

स्वभाव तो किसी बन्धन में न बँधने का है। सभी बन्धनों से मुक्त होने की एक प्रेरणा मनुष्य में काम करती आयी है। विमुक्ति-सुख को ही वह सबसे बड़ा सुख मानता है। हमारे पूर्वजों ने इस प्रेरणा को भी अपने चार पुरुषार्थों में उचित स्थान दिया और उसका 'मोक्ष' नाम रखा।

और उन्होंने कहा, ये चार पुरुषार्थ जीवन की चार प्रमुख प्रेरणाएँ हैं। इनमें से धर्म और मोक्ष की प्रेरणाएँ प्रबल बनीं तो काम और अर्थ कमजोर हो पड़ेंगे। काम और अर्थ प्रबल बनेंगे तो धर्म और मोक्ष की प्रेरणाएँ कमजोर हो ही जाएँगी। जीवन में चारों प्रेरणाओं के लिए स्थान है। चारों का प्रमाण सँभालकर सेवन होना चाहिए। तभी तुम सन्तुलित जीवन जी सकोगे।

हमारे पूर्वज सर्वज्ञ तो नहीं थे। पर आधुनिक विचारों को लोग मानते हैं कि वे नासमझ भी नहीं थे।

68

अपने उत्तुंग व्यक्तित्व के लोगों को बौना बना देने में महाराष्ट्रीय बुद्धिजीवियों का कौशल बेमिसाल है।

कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर का ही उदाहरण लीजिए। वे केसरी के उपसम्पादक थे। लोकमान्य तिलक के दाहिने हाथ माने जाते थे। केसरी के जिन लेखों के कारण लोकमान्य को छः साल की सजा भुगतनी पड़ी थी, वे खाडिलकर के लिखे हुए थे। सशस्त्र क्रान्ति में उलझे हुए लोगों की गतिविधियों से वाकिफ रहना लोकमान्य जरूरी समझने लगे थे। पर उनसे सीधा सम्पर्क रखने पर क्रान्तिकारियों के लिए ही वह खतरनाक सिद्ध हो सकता था। यह महसूस हुआ तब खाडिलकर जी ने यह जिम्मेदारी अपने सिर पर ले ली। पूरे देश में जितने क्रान्तिकारी दल थे, सबसे उन्होंने सम्पर्क साधा और लोकमान्य को उनकी गतिविधियों से हमेशा परिचित रखा। उन्होंने मराठी में चन्द उत्तम नाटक जरूर लिखे। पर नाटककार की हैसियत से नहीं, बल्कि एक राष्ट्रसेवक की हैसियत से। 'कीचक वध' जैसा नाटक कोई बड़ा नाटककार भी नहीं लिख सकता। वह तो कोई क्रान्तिकारी राष्ट्रसेवक ही लिख सकता था।

पर आज का महाराष्ट्र उन्हें किस रूप में जानता है? देवल, गड़करी, किर्लोस्कर जैसे भले ही उच्चकोटि के हों, पर एक नाटककार के ही रूप में। क्या खाडिलकर जी की यही सही पहचान है? वे अगर एक भी नाटक न लिखते तो क्या ये लोग उन्हें बिलकुल भूल जाते?

आज वे साने गुरुजी को भी बौना बनाने के काम में लगे हैं। केवल एक

साहित्यकार के रूप में वे उनको लोगों के सामने रखने लगे हैं। क्या साने गुरुजी केवल साहित्यकार थे? मैं तो उन्हें स्वतन्त्रता संग्राम के एक शूर सेनानी के रूप में जानता हूँ। कई बार वे जेल हो आये हैं। मैं उन्हें एक समाज सुधारक के रूप में पहचानता हूँ। पण्ढरपुर का मन्दिर हरिजनों के लिए खुलवाने में उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। वे बहुत अच्छे राष्ट्रीय शिक्षक थे। अपने कई विद्यार्थियों को तेजस्विता की दीक्षा देकर उन्होंने राष्ट्रसेवा में लगा दिया। महाराष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा में जो भी कुछ मांगल्य और पवित्र है, उसके वे एक उत्तम प्रतीक हैं।

महाराष्ट्र में साहित्यकार कई हुए हैं। साने गुरुजी एक ही हुए।

खाडिलकर जी और साने गुरुजी जैसों को केवल साहित्यकार के रूप में पेश करना क्या महाराष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा का अपमान नहीं है?

69

बुद्धि और श्रद्धा दोनों के बीच द्वन्द्व क्यों होना चाहिए? जीवन में दोनों के लिए जगह है। बुद्धि हमें किस रास्ते से जाना चाहिए, यह बता देती है। श्रद्धा उस रास्ते पर चलने की शक्ति हमें देती है। श्रद्धा कमजोर पड़े तो हम अकर्मण्य हो जाएँगे। बुद्धि के बताये हुए रास्ते पर चलने के लिए हिचकिचाने लगेंगे। कसौटी के समय अपने को निर्वीर्य महसूस करेंगे।

यह सही है कि श्रद्धा पर बुद्धि का नियन्त्रण होना जरूरी है। वरना वह विकारों के अधीन हो सकती है। बहकर कहीं की कहीं जा सकती है। इसलिए जीवन में श्रद्धा को दिशा दिखाने वाली बुद्धि का होना जितना जरूरी है उतना ही बुद्धि को चलानेवाली श्रद्धा का भी होना जरूरी है। दोनों का समन्वय जिसके जीवन में है, वही आदर्श मनुष्य है।

बुद्धिवादियों ने हमेशा श्रद्धा का अनादर किया। वे अगर अपने बुद्धिवाद को बुद्धि की ही कसौटी पर परखकर देखते, तो दो बातें उन्हें प्रतीत हो जातीं—

1. बुद्धिवाद भी एक श्रद्धामार्ग ही है। बुद्धि हमें सत्य की ओर ले जाएगी यह श्रद्धा उसकी बुनियाद में है। और—
2. जहाँ बुद्धि पहुँच नहीं पाती, वहाँ श्रद्धा पहुँच जाती है।

बुद्धि का स्थान दिमाग में है। श्रद्धा का हृदय में है। हृदय भी हमें सत्य की पहचान करा देता है। बुद्धि से श्रद्धा की शक्ति कई गुना बड़ी है। पराक्रमी हमेशा श्रद्धावान ही होते हैं। श्रद्धावान को कोई पराजित नहीं कर सकता। बुद्धिमान कदम-कदम पर पराजित होते आये हैं। प्रह्लाद में कितनी बुद्धि थी? पर श्रद्धा मेरु से भी अचल थी।

मैंने कई बुद्धिमान चरित्रहीन देखे हैं। श्रद्धावानों में चरित्रहीन अभी तक मुझे कोई नहीं मिला है।

70

बुद्ध, महावीर, गाँधी के इस देश में पशु-पक्षियों का वध करनेवाले कितने बूचड़खाने होंगे? लगभग छत्तीस हजार! इनमें हजारों गाय, बैल, सूअर, बकरे, मुरगे, बत्तख रोज सुबह काटे जाते हैं।

क्या इस हत्याकाण्ड का पर्यावरण पर कोई असर नहीं होता? पेड़ काटने से होता है। जंगल सफाया करने पर होता है। जंगल के पशु-पक्षियों को मारने से होता है। कृमि-कीटों का नाश करने से होता है। गाय, बैल, सूअर, बकरे, मुरगे, बत्तख के संहार से नहीं होता? होता ही होगा। वह हमें दिखाई नहीं देता, इसका मतलब असर होता ही नहीं, ऐसा तो नहीं कह सकते। प्रकृति में सब कुछ एक-दूसरे से जुड़ा रहता है। उसके किसी एक अंग पर चोट लगने से आसपास की सृष्टि पर उसका कुछ न कुछ असर होता है। इस हत्याकाण्ड का भी होना ही चाहिए।

मनुष्य केवल पशु-पक्षियों को ही मारता है, ऐसा नहीं है। वह तो अपने ही जैसे मनुष्यों को लड़ाई में मारता आया है। पिछली बीस शताब्दियों में, कहते हैं, उसने करीब चौदह करोड़ नब्बे लाख लोगों को मारा। मुझे इस सम्बन्ध में 'डाउन टू अर्थ' पत्रिका में कुछ आँकड़े पढ़ने को मिले—

पहली पन्द्रह शताब्दियों में उसने सैंतीस लाख लोगों को मारा। (हर शताब्दी में करीब ढाई लाख लोग) बाद में इसमें 'प्रगति' होती गयी। सोलहवीं शताब्दी में उसने सोलह लाख लोगों को मारा। सत्रहवीं शताब्दी में साठ लाख, अठारहवीं में सत्तर लाख, उन्नीसवीं में एक करोड़ नब्बे लाख और बीसवीं शताब्दी में ग्यारह करोड़ चौदह लाख लोगों को मारा। कुदरत में बिल्लियाँ चूहों को मारती हैं, बाघ हिरनों को मारते हैं। पर क्या चूहे चूहों ने युद्ध करके एक-दूसरे को मारा, बिल्लियाँ बिल्लियों ने, बाघ बाघों ने एक-दूसरे को मारने के लिए युद्ध किये, ऐसा किसी ने सुना है? वे जानवर हैं। हम मनुष्य हैं। एक-दूसरों को मारना केवल मनुष्य के बीच ही चल सकता है, जानवरों के बीच नहीं।

आखिर में प्राण प्राण ही है। चाहे वह कृमि-कीटों का हो, पशु-पक्षियों का या मनुष्यों का हो। प्राण की स्वाभाविक गति में जब दखलअन्दाजी होती है तब कुदरत के तन-मन में उसका कोई असर नहीं होता, यह हम कैसे मान सकते हैं? वह जरूर

काँपता होगा। और उसकी तरंगें आसपास फैलती होंगी। कुदरत का जीवन ऐसी ही तरंगों के तानों-बानों से बुना हुआ है।

अभी-अभी एक पत्रिका में मैंने 'बिस' सिद्धान्त के बारे में पढ़ा। 'बिस' यानी बजाज, इब्राहिम और सिंह। भौतिक विज्ञान के ये तीनों जानकार माने जाते हैं। दिल्ली में कहीं पढ़ाते हैं। वे कहते हैं, 'पृथ्वी पर जब-जब हिंसा का ताण्डव चला है तब-तब पृथ्वी काँप उठी है और कहीं न कहीं भूचाल हुए हैं।'

यूरेका मिल गया, मुझे जवाब मिल गया कहकर मैं नाचने लगा। भूकम्प केवल अन्ध भौतिक नियमों के कारण ही नहीं होते; दूसरे भी कई कारण होते हैं। उनमें एक 'नैतिक' कारण भी हो सकता है।

इस बार जब दिल्ली जाऊँगा तब इन तीनों वैज्ञानिकों से मिलकर उनका सिद्धान्त समझने की कोशिश करूँगा।

71

आज की दुनिया दो हिस्सों में बँट गयी है—एक हिस्सा है विकसित देशों का, दूसरा, विकसित होने की कोशिश में लगे हुए विकासशील देशों का।

इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, जापान, अमेरिका और कैनेडा विकसित देश हैं। जबकि दुनिया के बाकी के सारे देश दूसरे हिस्से में समा जाते हैं।

आबादी की दृष्टि से देखें तो दुनिया की कुल आबादी के केवल चौबीस फीसदी लोग विकसित देशों में बसे हुए हैं। छिहत्तर फीसदी लोग बाकी की दुनिया में रहते हैं।

विकसित देशों में बसे हुए चौबीस फीसदी लोग (महाभारत की परिभाषा में कहूँ तो) 'बकासुर' हैं। दुनिया की पैदावार का अधिक से अधिक उपभोग यही लोग करते हैं। 'डाउन टू अर्थ' पत्रिका में इस सम्बन्ध में कुछ आँकड़े पढ़ने को मिले। इन आँकड़ों के अनुसार—

बहत्तर फीसदी दूध इनके पेट में जाता है। उन्यासी फीसदी मछली यही लोग खाते हैं। पचहत्तर फीसदी अनाज भी यही उड़ा देते हैं।

कागज अस्सी फीसदी, ताँबा छियालीस फीसदी, इस्पात पचासी फीसदी, वाहन सत्तासी फीसदी और ईंधन पचहत्तर फीसदी इन्हीं के हिस्से में जाता है।

मोटे तौर पर कहें तो दुनिया के चौबीस फीसदी लोगों को उपभोग के लिए दुनिया की पचहत्तर फीसदी पैदावार मिलती है तो छिहत्तर फीसदी लोगों के हिस्से सिर्फ पच्चीस फीसदी पैदावार आती है।

कितना बड़ा अन्तर है इन दोनों के बीच? कौन-सी अर्थनीति पाटेगी दोनों के बीच की यह खाई ?

72

काकासाहब की 'सन्निधि' देश की उन इनी-गिनी संस्थाओं में से एक है, जो सरकारी अनुदान से नहीं चलती। मैं इस संस्था का कभी मन्त्री था। संस्था चलाने के लिए काफी खींचातानी करनी पड़ती थी। एक दिन तंग आकर मैंने काकासाहब से कहा, ''सरकार हमारी है, लोगों की चुनी हुई है; वह संस्थाओं को जो अनुदान देती है वह लोगों से ही लेकर देती है। लोगों का ही यह पैसा होता है; उसे माँगने में क्या हर्ज है?''

वे मुस्कुरा दिये और कहने लगे, ''संन्यासियों का घरबार नहीं होता। उनके बीवी- बच्चे, सगे-सम्बन्धी भी नहीं होते। यही नहीं, समाज में रहने पर भी वे समाज के नहीं होते। समाज का कोई नियम उन पर लागू नहीं होता। पर समाज की वे कीमती सेवा करते हैं। लोगों को धर्मनीति सिखलाते हैं। उनका जीवन संस्कारी बनाते हैं। उद्विग्न, अशान्त लोगों को आश्वासन देते हैं। अशान्ति, बेचैनी दूर करने के उपाय सुझाते हैं। कइयों के पास जड़ी-बूटियाँ भी होती हैं, जो कइयों की बीमारियाँ दूर करती हैं। उनकी यह सेवा देखकर समाज ने एक नियम बनाया : संन्यासी के गाँव में आने पर लोगों को चाहिए कि वे उनका आतिथ्य करें, उन्हें खिलाने-पिलाने का प्रबन्ध करें। समाज का यह धर्म है। इस धर्म के पालन से समाज को कोई पुण्य मिले या न मिले, संन्यासियों का इससे कुछ लेना-देना नहीं होता। 'भगवान ने दिया, और हमने उसे ले लिया' इसी वृत्ति से वे चलते रहे हैं।...

''इन संन्यासियों के लिए भी एक नियम बनाया गया था—आप चाहे किसी के यहाँ जाकर रहें, चाहे किसी के घर का खाना खाएँ, सामाजिक ऊँच-नीच भाव, अपने-पराये भाव से आपका कुछ भी लेना-देना नहीं है। पर राजा के यहाँ का अन्न आप ग्रहण न करें।...

''क्यों ? राजान्ते नरकः। राजा को तो अन्त में नरक में ही जाना है। दूसरों को भी वह अपने साथ ले जाता है। इसलिए उसके यहाँ का अन्न आपके लिए निषिद्ध है।''

यह सब समझाकर काकासाहब कहने लगे, ''सरकारी अनुदान से जो संस्थाएँ चलती हैं, सब निस्तेज हो गयी हैं। संस्थाएँ लोकाश्रय से ही चलनी चाहिए वरना विसर्जित कर देनी चाहिए। अ-सरकारी काम ही असरकारी होता है।''

73

वे कहने लगे, ''आजकल के तुम लेखक लिखते बहुत सुन्दर हो। चाव से वह पढ़ा भी जा सकता है। पर खेद के साथ कहना पड़ता है, उसमें गहराई नहीं होती।''

मैंने पूछा, ''गहराई कैसे आती है?''

''जीवन में गहराई होनी चाहिए। तभी वह साहित्य में आएगी।''

''जीवन में वह कैसे आती है?''

''अपमान सहने से, कड़ुवे अनुभव पाने से, जीवन में असफल होने से, अन्याय सहने से। बिना दु:ख के जीवन में गहराई नहीं आती। सुखी और सफल जीवन कभी गहरा नहीं हो सकता। दु:ख ही जीवन की असली पूँजी है।'' मुझे जवाब मिला।

मेरे लिए जवाब नया नहीं था। यह घिसापिटा एक जवाब है, जो सभी देते आये हैं। मैं ऐसे कई लोगों को जानता हूँ, जिन्होंने जीवन में बहुत दु:ख सहे हैं। इनमें से जीवन की गहराई में उतरा हुआ अभी तक मुझे कोई देखने को नहीं मिला। उल्टे, दु:खों के कारण दीनहीन, निस्सहाय, डरपोक, कमजोर, दबे हुए, उदास, निराश, ईर्ष्यालु, मत्सरी, विकृत, अविश्वासी, अशान्त बने हुए ही बहुत से देखने को मिले।

दु:ख को यह लोग जो महत्त्व देते हैं, उतना वाकई उसे महत्त्व नहीं है।

जीवन में गहराई आने के लिए प्रज्ञा की आवश्यकता है। और प्रज्ञा का उदय प्रसन्न चित्त में ही हो सकता है। जीवन में प्रसन्नता ही अहमियत रखती है। वह चिन्तन से भी पायी जा सकती है। बुद्ध की सारी आयु लोगों को प्रसन्नता पाने की कला सिखाने में ही खर्च हुई थी। प्रसन्नता को उन्होंने 'निर्वाण' कहा था।

प्रसन्नचित्त में ही प्रज्ञा स्थिर हो सकती है। और प्रज्ञा ही हमें गहराई में ले जाती है।

आसमान की गहराई नापने के लिए कोई तालाब आसमान में उड़ गया है क्या? वह शान्त (=प्रसन्न) रहा है। किसी भी प्रकार की लहरें उसने अपनी सतह पर उठने न दीं, तभी आसमान की गहराई उसमें प्रतिबिम्बित हो सकी है।

74

किस तरह का काम हाथ में लें?

एक आदर्श—हमारी सारी बुद्धि-शक्ति खर्च करने पर ही जो पूरा हो सके।

दूसरा आदर्श—सिर्फ हमारी नहीं, बल्कि अनेक की बुद्धि-शक्ति खर्च करने पर ही जो पूरा हो सके।

पहले आदर्श को लेकर चलेंगे तो हम कभी आलसी नहीं होंगे। दूसरा आदर्श

लेकर चलेंगे तो उम्र बड़ी होने पर भी बुड्ढे नहीं होंगे।

75

कीर्ति के कई प्रकार हैं। कल तक जिसका नाम भी किसी ने सुना नहीं था वह आज अचानक प्रख्यात हो जाता है। सभी की जबान पर उसका नाम चढ़ जाता है। फूलनदेवी को ऐसी कीर्ति मिली थी। डकैतियाँ डालनेवाली वह एक युवती थी। कई दिनों तक पुलिस को चकमा देती रही थी। अचानक एक दिन गिरफ्तार हुई और दूसरे ही दिन उसका नाम देश के सभी अखबारों के पहले पृष्ठ पर चमकने लगा। कई पत्रिकाओं ने उस पर विशेषांक भी प्रकाशित किये।

और एक महीने के भीतर ही विस्मृति में लुप्त हो गयी।

जवाहरलाल जी को जो मिली थी वह दूसरे प्रकार की कीर्ति है, जो मिलने पर लगातार बढ़ती ही जाती है। उनके निधन के बाद भी बढ़ती ही रही है।

बुद्ध और ईसा को मिली वह इसी प्रकार की है, पर है इससे भी उच्चकोटि की। दो-दो, तीन-तीन हजार वर्षों तक चलती रही है। दुनिया के अन्त तक चलती रहनेवाली है।

इनकी पंगत में महात्मा गाँधी अवश्य बैठ पाएँगे।

और एक प्रकार की कीर्ति है, जो मृत्यु के बाद ही मिलती है। साहित्यकारों की दुनिया में ऐसी कीर्ति काफ़्का को मिली थी। वे जीवित थे, तब तक किसी का ध्यान उनकी ओर नहीं गया था। मृत्यु के बाद ही गया। ऐसे लोगों को पहचानने में दुनिया जरा देरी लगाती है। पर पहचानने के बाद उन्हें भूलती नहीं।

हमें किस तरह की कीर्ति की आकांक्षा रखनी चाहिए? बुद्ध और ईसा को मिली वैसी कीर्ति तो महापुरुषों को ही मिलती है। जवाहरलाल जी को मिली वैसी कीर्ति की आकांक्षा रख सकते हैं, भले ही वह पूरी न हो सके। काफ़्का को जैसी मिली वैसी कीर्ति की आकांक्षा तो कम से कम रख ही सकते हैं।

मगर कम्बख्त हम फूलनदेवी को मिली उस कीर्ति की आकांक्षा रखते हैं!

76

धूप में काफी देर तक घूमने के बाद पाँव अपने आप माण्डवी होटल की ओर चलने लगे। वहाँ एक बुक स्टॉल है। वातानुकूलित वायुमण्डल में नयी पुस्तक देखने लगा। एक लेने लायक लगी। बाहर के एक सोफा पर बैठकर उसके पन्ने पलटने लगा। इतने

में एक सज्जन आये। ''क्या किसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं?'' उन्होंने पूछा।

''नहीं, एक पुस्तक देख रहा था।'' मैंने जवाब दिया।

उनके साथ एक सज्जन थे। 'मीट् माय फ्रेण्ड सो एण्ड सो' करके उन्होंने हम दोनों का परिचय करा दिया।

''आप गोवा के हैं क्या ?'' मैंने पूछा।

''जी...यहीं का हूँ।'' यह जवाब देकर वे मुझसे कुछ पूछने जा रहे थे, कि इतने में और एक सज्जन उन्हें ढूँढ़ते हुए आये और ये उनके साथ ऊपर चले गये। वहाँ उनकी 'लंच पार्टी' थी।

जिन्होंने हमारा परिचय कराया था उन्होंने कहा, ''जानते हो, कितना बड़ा आदमी है यह? फलाँ कम्पनी का डायरेक्टर है। गोवा के बड़े-बड़े लोग गोवा के बाहर कितने हैं, हमें मालूम ही नहीं है।''

मैंने कहा, ''आपने सही फरमाया।''

वे भी 'लंच पार्टी' में चले गये, तब मैं फिर से पुस्तक के पन्ने उलटने-पलटने लगा। पर इधर दिमाग यह 'बड़ा आदमी' कितना बड़ा है यह देखने के लिए उसे नापनें-तौलने के काम में लग गया था। उसने अपने आपसे कहा, यह बड़ा आदमी जब जवान था तब गोवा अपनी आजादी के लिए लड़ रहा था। क्या इस लड़ाई में इसने हिस्सा लिया था? लिया होता तो कहीं टकराता जरूर। मैंने तो उसे कहीं पर भी नहीं देखा। गोवा आजाद होते ही वहाँ एक दूसरी लड़ाई शुरू हुई थी। गोवा का महाराष्ट्र में विलय करके भारत के नक्शे पर से उसका नामोनिशान मिटा देने के लिए कई आसुरी शक्तियाँ कार्यरत हुई थीं। उनका प्रतिकार करने के लिए कितने ही युवक-युवतियाँ स्कूल-कॉलेज, नौकरियाँ छोड़कर संघर्ष में कूद पड़े थे। क्या इस लड़ाई में यह 'बड़ा आदमी' शामिल हुआ था? नहीं। यानी गोवा आजाद हो या गुलाम रहे, उसका महाराष्ट्र में विलय हो या वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखे, गोवा के इन अहम सवालों के साथ इसका कोई ताल्लुक नहीं था। यह बिलकुल उदासीन था। अपने बीवी-बच्चे, अपना कैरियर, अपना बैंक खाता छोड़कर इसे किसी बात में दिलचस्पी नहीं थी। जिसका गोवा के अहम प्रश्नों से कुछ लेना-देना नहीं है, उसे गोवा के लोग न पहचानें तो दोष किसका है।

गोवा बहुत छोटा प्रदेश है। उसके बड़प्पन के आदर्श भी बहुत छोटे हैं।

77

काकासाहब गुजरात विद्यापीठ के आचार्य थे, उन दिनों की बात है—

उनका एक विद्यार्थी 'वीणा' नामक एक वार्षिक पत्रिका चला रहा था। पत्रिका

के उस वर्ष के अंक के लिए वह काकासाहब के पास एक लेख माँगने गया।

काकासाहब को अपने हाथ से लिखने की आदत नहीं थी। कोई लिख लेनेवाला मिल जाता तब वे लिखवाते थे। उनकी सारी साहित्य-सम्पदा इसी तरह तैयार हुई है। पर इसके लिए भी उनके पास उन दिनों फुरसत नहीं थी। गाँधीजी एक बड़े यज्ञ की तैयारी में लगे हुए थे। इस यज्ञ में वे आश्रम और विद्यापीठ जैसी अपनी प्रिय संस्थाओं की भी आहुति देना चाहते थे। और काकासाहब तो विद्यापीठ के आचार्य थे। वे अपने विद्यार्थियों को बलिदान के लिए तैयार करने के काम में जुट गये थे। पर इस युवक सम्पादक को वे खाली हाथों वापस लौटाना भी नहीं चाहते थे। उन्होंने अपनी दैनिकी खोली और उस युवक सम्पादक से कहा, ''परसों शाम को आकर लेख ले जाना।''

''अच्छा जी,'' कहकर सम्पादक जाने के लिए खड़ा हुआ। अचानक उसके मन में क्या आया, वही जाने। उसने कहा, ''परसों तो मैं आ ही जाऊँगा। पर आज आप मुझे एक सन्देश लिख दीजिए, भले ही वह एक पंक्ति का हो। नीचे आपका हस्ताक्षर हो।'' और उसने अपनी नोटबुक उनके हाथ में रख दी। काकासाहब ने उस नोटबुक पर अपना सन्देश लिख दिया—''सलामती शोधताँ पुरुषार्थ हणाय छे।'' (सुरक्षा की चाह में पुरुषार्थ का हनन होता है) और नीचे अपने हस्ताक्षर कर दिये।

सन्देश पढ़ते ही युवक सम्पादक खुशी के मारे उछल पड़ा। कहने लगा, ''काकासाहब, मैं जो लेने आया था मुझे मिल गया है। आपके लेख की अब मुझे जरूरत नहीं है। इस एक वाक्य में सब कुछ आ जाता है।''

वीणा के उस वर्ष के अंक पर बाहर के पृष्ठ पर ही काकासाहब का यह सन्देश उन्हीं के अक्षरों में उनके हस्ताक्षर सहित छपा था।

सुरक्षा यानी एक सहारा अपने को बचाने का। डर का ही यह दूसरा नाम है। समाज में चली हुई होड़ में मैं पिछड़ तो नहीं जाऊँगा? धोखा तो नहीं खाऊँगा? ठगा तो नहीं जाऊँगा? लोग मुझे बेवकूफ तो नहीं कहेंगे? इस डर से आदमी हमेशा एक सहारा ढूँढ़ता आया है। मामूली तिनके को भी पकड़कर रहता है और अपने को सुरक्षित मानता है। फिर यह तिनका भले ही नौकरी का हो, जमीन-जायदाद का हो या किसी धार्मिक कर्मकाण्ड का हो। हर माह तनख्वाह मिलनी चाहिए। बीच-बीच में तरक्की मिलनी चाहिए। बुढ़ापे में पेंशन मिलनी चाहिए—पे, प्रोमोशन और पेंशन के जाल में आदमी अपने को फँसा देता है और इनके सहारे पोजिशन, प्रेस्टिज और पावर—ये नये 'पी' (P) पाता है। अकसर हम सब अन्दर से खाली और खोखले होते हैं। इसलिए ये तीन 'पी' न मिलें तो अपने को हारे हुए, ध्वस्त हुए, मानते हैं। और जो भी तिनका मिलता है उसको पकड़कर रहते हैं।

पक्षियों को पंख मिले हैं उड़ने के लिए। उड़ने के बदले वे किसी टहनी को

पकड़कर बैठ जाएँ तो उनकी क्या हालत होगी ? वही हमारी होती है, जब हम सुरक्षा के पीछे लगते हैं। कई बड़े-बड़े लोग पुरुषार्थहीन हुए हैं, इस एक डर के कारण। उनके सभी गुण मटियामेट हुए हैं, सुरक्षा की चाह के कारण। जो सुरक्षा के पीछे लगता है वह जिन्दगी में कुछ भी नहीं कर पाता। वह खत्म हो जाता है। खुद उस पर अन्याय होता है तब भी वह प्रतिकार करने की हिम्मत नहीं रख पाता।

काकासाहब का यह 'सुरक्षा की चाह में पुरुषार्थ का हनन होता है' मन्त्र हर जवान को जवानी में प्रवेश करते समय ही देना चाहिए। उसे बताना चाहिए, सुरक्षा की चाह तुम अपने हृदय को कभी भी छूने मत दो। जीवन में अगर कुछ विशेष करके दिखाना चाहते हो तो आग में कूदो, अँधेरे में पैठो, संकटों का सामना करो। जीवन सफल होगा।

78

बरसों पहले 'युनेस्को' ने दुनिया के सभी देशों से पूछा था, ''आप लोगों ने विकास की यह जो रट लगायी है, वह किसके विकास की है ? आपकी राय में विकास साधन है या साध्य ? अगर साधन है तो साध्य क्या है ? मनुष्य जैसा आज है, उससे अधिक संस्कारी बने, अच्छा बने, सुखी हो; यही अगर आपकी विकास प्रवृत्ति का साध्य हो तो भविष्य के 'विकसित' मनुष्य का चित्र क्या आपके सामने स्पष्ट है ? वह जीवन में क्या करेगा, कैसा होगा, किस उद्देश्य से जीएगा, यह पहले आपके दिमाग में स्पष्ट होना चाहिए। इसके बाद अपने अर्थविदों, शिक्षाविदों और प्रशासनविदों को बुलाकर कहना चाहिए, हमें इस तरह का मनुष्य बनाना है, इसके लिए जो करना आवश्यक है उसका एक आन्तरिक ढाँचा (Intra-structure) बनाकर हमें दें!'' आपके पास सिर्फ विकास की योजना होना पर्याप्त नहीं है, 'डिजाइन फॉर लिविंग' भी होना चाहिए। जीवन-स्तर से 'क्वालिटी ऑफ लाइफ' का विचार आपको मुख्यत: करना होगा। इसके बाद ही शिक्षा, उद्योग और व्यापार का स्थान तय करना होगा।

दुर्भाग्यवश युनेस्को की इस सलाह पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। क्योंकि सुनने वाले सभी 'विशेषज्ञ' थे, 'वैज्ञानिक' थे। उनके पास आँकड़े थे। इन आँकड़ों को ध्यान में रखकर विज्ञान की मदद से उन्होंने औद्योगिकीकरण का एक नक्शा बनाया, नये बाजार का एक चित्र खड़ा किया। जिसके लिए यह सब करना था वह 'मनुष्य' किस तरह का होगा, यह चित्र उनके सामने कतई नहीं रहा।

किसी में 'दृष्टि' नहीं थी।

आज दुनिया के सभी छोटे-बड़े देश एक-दूसरे के पड़ोस में आकर रहने लगे हैं। मनुष्य पृथ्वी के बाहर के ग्रहों पर भी यात्राएँ करने लगा है। इतनी बड़ी सिद्धि के बाद जो विचार पुराने हो चुके हैं, जो सामाजिक संस्थाएँ निकम्मी सिद्ध हुई हैं, उन्हीं से चिपककर रहना मुनासिब नहीं है। जो दीवारें मनुष्य ने अपने आसपास खड़ी की थीं, वे सब उसे अब तोड़नी ही होंगी, भले ही उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त की हो, अब उसे अपने आप पर विजय हासिल करनी ही होगी। नये जमाने के लिए उसे अपने आपको अनुकूल बनाना ही होगा।

हाँ, दुनिया अब नयी बनी है। पर मनुष्य पुराना ही रह गया है। दुनिया अब इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश कर गयी है। मनुष्य अभी तक प्रस्तर युग में ही जी रहा है। विकास की रट लगाकर बैठे देशों को अब मनुष्य 'मनुष्य' कैसे बनेगा, इस पर सोचना होगा। नयी योजनाएँ बनानी होंगी। उसके जराजीर्ण, दकियानूसी सभी अंग काटकर फेंक देने होंगे वरना विकास महँगा पड़ जाएगा। मनुष्य का सिर्फ आकार ही मनुष्य का रह जाएगा। असल में वह दानव बन जाएगा।

79

लोग शराब क्यों पीते हैं?

गरीब पीते हैं, यह बात तो समझ में आती है। बेचारे लूटे जा रहे हैं। दिन-रात मेहनत करते हैं, पर जो मजदूरी उनको मिलती है वह दो वक्त की रोटी भी नहीं दिला सकती। दूसरों के लिए अनाज पैदा करते हैं, खुद भूखे रहते हैं। दूसरों को बँगले बनाकर देते हैं, खुद झोंपड़ियों में रहते हैं। जिस दुनिया में वे रहते हैं वह डाकुओं की दुनिया है। इस दुनिया के खिलाफ लड़ने की ताकत उनमें नहीं है, यह वे जानते हैं।

इस दुःख को भुला देने के लिए वे पीते हैं।

लेकिन केवल गरीब ही पीते हैं, ऐसा नहीं है। धनवान भी पीते हैं। वे क्यों पीते हैं? अच्छी लगती है, इसलिए? 'तरोताजा' बनने के लिए ? वे चाहे कोई भी जवाब दें, असल बात यह है कि वे भी धोखे में आ रहे हैं, वे भी दुःखी हैं। वे चाहते थे सुख। उसे पाने के लिए उन्होंने तरह-तरह के धन्धे शुरू किये थे। पर धन्धों में इतने उलझ गये कि सुख दिन-ब-दिन उनसे दूर ही भागता रहा। दुनिया का कोई धनवान शान्ति से अब तक सो नहीं सका है। उसने नींद की गोलियाँ ली हैं, तभी उसे नींद आयी है। दुनिया का कोई धनवान अब तक समय पर खाना नहीं खा सका है। अगर समय पर खाने बैठा है तो लज्जत के साथ उसने कभी कुछ खाया नहीं है। अच्छी पुस्तकें पढ़ने के लिए तो खैर, अच्छा संगीत सुनने के लिए भी किसी धनवान को

फुरसत नहीं होती। यही नहीं, बीवी-बच्चों के साथ घूमने, बातें करने, हँसी-मजाक करने के लिए भी उनको समय नहीं मिलता। हमेशा एक तरह के तनाव में वह रहते हैं। इस तनाव को उतारने के लिए वे पीते हैं।

भले वे यह कबूल न करें।

पैसा तो हर एक के पास होना ही चाहिए। बिना पैसे के पेड़ का पत्ता भी हिल नहीं सकता। पर पैसा हमें सुख देगा यह, निरा भ्रम है। इस भ्रम से जितने जल्दी हम मुक्त होंगे उतने ही हम सही माने में 'सुखी' होंगे। पैसों से सभी कुछ खरीदा जा सकता है। पर सुख नहीं खरीदा जा सकता। प्यार नहीं खरीदा जा सकता। स्वास्थ्य नहीं खरीदा जा सकता। पैसों से हम बहादुर को नहीं डरा सकते और डरपोक को बहादुर नहीं बना सकते। पैसे की ताकत सीमित है। अपनी यह सीमा पार करके जब वह आगे जाता है, तब वह हमारा सेवक नहीं, बल्कि मालिक बन जाता है। और जब वह हमारा मालिक बनता है तब सबसे पहले वह हमारे सुख का ही हरण कर लेता है।

हिमालय में कई 'तपस्वी' देखे थे। कोई एक पाँव पर खड़ा रहकर बरसों से तपस्या कर रहा था। कोई एक हाथ ऊँचा करके उसी अवस्था में बरसों से रहता आया था। कोई सूरज की ओर आँखें खोलकर देखता रहता था। कोई लोटता हुआ, करवटें बदलता हुआ पर्वत चढ़ता या उतरता था। यह तपस्या ईश्वर को पाने के लिए वे करते थे। ईश्वर को कैसे पाया जा सकता है, मुझे मालूम नहीं। पर इस तरह की 'तपस्या' से हर्गिज नहीं पाया जा सकेगा, यह चिल्ला-चिल्लाकर उन्हें कहने की मुझे इच्छा हुई थी। वही इच्छा इन उद्योगपतियों, व्यापारियों, धनवानों को सुख पाने के लिए सुख खोते हुए देखता हूँ, तब होती है।

वे यह जानते हैं। पर बेचारे लाचार हैं। इस लाचारी को भुलाने के लिए वे पीते हैं।

80

वे दफ्तर में नहीं थे। इसलिए उनसे मिलने उनके घर गया।

"क्यों भाई, बीमार हो क्या?" मैंने पूछा।

"नहीं तो।"

"फिर दफ्तर क्यों नहीं गये?"

"छुट्टियाँ बहुत जमा हुई थीं। न लीं तो लैप्स हो जाएँगी।"

मैं मन ही मन हिसाब लगाने लगा। इन्हें शनिवार और इतवार की हफ्ते में दो

छुट्टियाँ बिना माँगे मिलती हैं। साल में बावन शनिवार और बावन इतवार—यानी यह साल में एक सौ चार दिन काम नहीं करते। इनके अलावा अठारह सार्वजनिक छुट्टियाँ (पब्लिक हॉलिडेज), तीस दिन अधिकार की (प्रिविलेज्ड) छुट्टियाँ, तीस दिन बीमारी की (सिक) छुट्टियाँ, बारह आकस्मिक (कैजुअल) छुट्टियाँ—कुल मिलाकर यह एक सौ चौरानबे दिन (यानी साढ़े छः महीने) छुट्टियाँ लेते हैं। काम सिर्फ साढ़े पाँच महीने करते हैं। और तनख्वाह साल भर की लेते हैं!

लन्दन से एक मित्र आये थे। वहाँ की किन्फर्ड नामक एक गाँव की पाठशाला की बात बता रहे थे। इस पाठशाला के बच्चों को साल में सिर्फ एक दिन की—क्रिसमस की छुट्टी मिलती है। बाकी के तीन सौ चौंसठ दिन पाठशाला खुली ही रहती है। बच्चे सुबह आते हैं, शाम को जाते हैं। बारह-बारह घण्टे रोज शिक्षक और विद्यार्थी साथ रहते हैं, साथ पढ़ाते/पढ़ते हैं, साथ खेलते हैं, साथ खाते-पीते हैं।

हमारे पुराने गुरुकुलों का मुझे स्मरण हो आया।

जापान में एक विश्वविद्यालय के प्राध्यापक से मिला था। सत्रह साल उन्होंने विश्वविद्यालय में काम किया था और केवल सत्रह ही छुट्टियाँ ली थीं। वे बता रहे थे, जापान में किसी का भी निधन हो, भले ही वह प्रधानमन्त्री हो या और कोई बड़ा आदमी, स्कूल कॉलेजों में छुट्टी नहीं दी जाती। खबर मिलते ही सब एक मिनिट के लिए मौन खड़े रहकर उसे श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। बस, बाकी के काम हमेशा की तरह चलते रहते हैं।

कहते हैं, एक बार जापान की सरकार ने हफ्ते में दो दिन की छुट्टियाँ देने का निर्णय लिया था। पूरे राष्ट्र ने इसका विरोध किया था। और सरकार को अपना निर्णय बदलना पड़ा था।

प्रकृति में कोई छुट्टी नहीं लेता। सूरज नहीं लेता, ऋतुचक्र नहीं लेता, पृथ्वी नहीं लेती, कोई प्राणी नहीं लेता। मनुष्यों को भी नहीं लेनी चाहिए। सप्ताह में एक दिन की इतवार की छुट्टी काफी है। देश सेक्युलर है इसलिए सभी धर्मों के त्योहारों की छुट्टियाँ सभी लोगों पर लादना उचित नहीं है। ईसाइयों को क्रिसमस और गुडफ्रायडे की, मुसलमानों को मुहर्रम और बकरी ईद की, हिन्दुओं को होली और दीवाली की सीमित (रेस्ट्रक्टेड) छुट्टियाँ दी जा सकती हैं। पन्द्रह अगस्त, छब्बीस जनवरी, दो अक्तूबर की छुट्टियाँ तो रद्द ही कर दी जाएँ। स्कूलों में ये खास दिन के तौर पर मनाये जा सकते हैं। इनका उपयोग बच्चों को 'सिखाने' के लिए ही किया जाए। किसी के निधन पर किसी को छुट्टी नहीं मिलनी चाहिए। एक मिनिट मौन खड़े रखकर श्रद्धांजलि अर्पित करें, इतना काफी है।

बड़े सख्त सुझाव लगेंगे ये सब। इनमें कुछ अपवाद किये जा सकते हैं। मसलन् जब हम बीमार पड़ते हैं या घर का कोई बीमार पड़ता है, तब छुट्टी हमें मिलनी चाहिए।

पर फिलहाल हमें जो छुट्टियाँ मिलती हैं, वह ऐयाशी है। विलासिता है। इस गरीब देश को शोभा नहीं देती।

आप कोई फैक्टरी खोलें और उसमें काम करनेवाले मजदूर साल में सिर्फ साढ़े छः महीने काम करके पूरे साल की तनख्वाह ले जाएँ तो आपका दिवाला नहीं निकल जाएगा?

अभी से सावधान हो जाएँ। देश किसी न किसी दिन हमसे काम का हिसाब माँगनेवाला है।

और वह दिन बहुत दूर नहीं है।

81

शादी करनी है, सरकार को सूचना दो। बच्चा पैदा हुआ, सरकार को बता दो। तलाक लेने की नौबत आयी, सरकार की मदद लो। कोई नया धन्धा शुरू करना है, सरकार से 'लायसेंस' लो। धन्धा चलाने के लिए कर्ज की आवश्यकता महसूस हो, सरकार से माँगो। धन्धे में कुछ कमाया, उसमें से थोड़ा हिस्सा सरकार को टैक्स के रूप में दो। आदमी मर गया, सरकार को बता दो।

रोजमर्रा के जीवन के सभी अंग सरकार के हाथ में चले गये हैं।

यहाँ तक कि आजकल खेती का काम भी सरकार पर निर्भर रहने लगा है। सरकार देती है वही बीज हमें बोने पड़ते हैं। खाद भी सरकार देती है। सिंचाई सरकार के पानी से होती है। पैदावार सरकार को या सरकार बताये, उसको बेचनी पड़ती है। कीमतें सरकार तय करती है।

इसे अगर आजादी कहें तो भला गुलामी हम कहाँ ढूँढ़ने जाएँगे?

सरकार सर्वशक्तिमान बनती है तब अनिवार्य रूप से भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। इतना ही नहीं, सरकार स्वयं भ्रष्टाचार की गंगोत्री बन जाती है। इस हालत में 'भ्रष्टाचारी लोगों से सरकार को सख्ती से पेश आना चाहिए', 'अच्छे लोगों को सरकार अपने हाथों में लेनी चाहिए' आदि जो सुभाषित सुनाये जाते हैं, बकवास सिद्ध होते हैं। चोर कभी अपने को पकड़वा नहीं देता, वैसे भ्रष्टाचारी सरकार भ्रष्टाचारियों से सख्ती से पेश नहीं आती। अच्छे लोग सरकार अपने हाथ में कभी ले नहीं पाते। सरकार वह लोग बनाते हैं, जिन्हें हम चुनकर भेजते हैं। और हम 'अपने ही' लोगों को हमेशा चुनकर भेजते हैं। अपने लोग यानी अपनी बिरादरी के, अपनी जाति के, अपने सम्प्रदाय के। वह लोग अपने ही स्तर के सामान्य लोग होते हैं—परम्परावादी, रूढ़िवादी, सुधार का विरोध करनेवाले। समाज जैसे चलता आया है वैसा ही चलता रहना चाहिए, ऐसा कहनेवाले।

जिन्हें भ्रष्टाचार नष्ट करना है, समाज बदलना है, उन्हें सरकार में नहीं जाना चाहिए। सरकार से बाहर रहकर सरकार पर अंकुश लगाने का काम करना चाहिए।

कृष्ण ने अपने जमाने के पाँच साम्राज्य मटियामेट कर दिये थे। पर इनमें से एक भी साम्राज्य अपने हाथ में नहीं लिया था। फिर भी अग्रपूजा का स्थान हमेशा उन्हीं को दिया जाता था। करीब पैंतीस वर्षों तक गाँधी न स्वयं चैन से सोये, न किसी को उन्होंने चैन से सोने दिया। पूरा देश जाग्रत किया। और देश में ऐसी परिस्थिति निर्माण की कि अँग्रेजों को स्वराज्य देना ही पड़ा। स्वराज्य में वे न राष्ट्रपति बने, न प्रधानमन्त्री। फिर भी अग्रपूजा का स्थान उन्हीं को मिलता रहा। इन्दिरा गाँधी की तानाशाही का अभियान रोकने के लिए जे. पी. सर्वोदय छोड़कर राजनीति में कूद पड़े। तानाशाही देश में आने नहीं दी। फिर भी उन्होंने सरकार अपने हाथ में नहीं ली।

प्रज्ञावादी राजनेता सरकार में कभी नहीं जाता। बाहर ही रहकर वह सरकारी सत्ता को लोगों की सत्ता के नियन्त्रण में रखता है।

सरकार हाथ में लेकर समाज बदलने की अभिलाषा रखना बेवकूफी ही है।

82

कहते हैं कि देश में काले धन (ब्लैक मनी) के रूप में करीब एक लाख करोड़ रुपये प्रचलित हैं। इस काले धन की वजह से हमारा अर्थतन्त्र सही पट्टी पर नहीं चल पाता। काला धन बाहर आना चाहिए, वरना हमारा सारा अर्थतन्त्र टूट जाएगा।

काला धन बाहर आए इसलिए सरकार ने अभी-अभी एक योजना बनायी और जिनके पास यह धन है उन लोगों से कहा, आपके पास इस प्रकार का जो धन है वह आप खुद सरकार को बता दें; आपके पास यह धन कैसे आया, आप से सरकार नहीं पूछेगी। आपसे नाम-मात्र का टैक्स लेकर सरकार आपको छोड़ देगी।

कइयों ने इस सहूलियत का फायदा लिया और थोड़ा-बहुत काला धन बाहर आया भी।

पर क्या काला धन बाहर लाने का यह सही उपाय था?

पिछले चन्द सालों में देश में कई 'घोटाले' प्रकाश में आये। सजा अब तक किसी को नहीं हुई है। पर इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि इन घोटालों में न सिर्फ पूँजीपति लिप्त हैं, बल्कि देश के बड़े-बड़े नेता, बड़े-बड़े अफसर और पुलिस भी शामिल है। देश में चरित्रवान कोई नहीं है। सब जगह चोर ही चोर बैठे हुए हैं, यही चित्र उभरता है।

यह तो प्रकाश में आये घोटाले की बात हुई। छिपे हुए कितने होंगे, ईश्वर जाने!

देनेवालों से लेकर ही देश में निर्माण होते हैं। और यह 'इण्डिया दैट इज़ भारत'

देश तो बुभुक्षित नेताओं का देश है। कितना लेना चाहिए, कितना खाना और लूटना चाहिए, इसका ख्याल ही जिन्हें नहीं है, ये ऐसे लोग हैं। इन लोगों को सहूलियतें देकर कितना काला धन बाहर आनेवाला है? काला धन सफेद करने के उनके अपने हजारों तरीके होते हैं।

काला धन बाहर लाने का एक ही कारगर उपाय है। और यह उपाय जो विशेषज्ञ नहीं हैं, ऐसे सामान्यजनों का है—

रिजर्व बैंक ऐलान करे कि इस साल के नोट अगले साल नहीं चलेंगे। हर साल दिसम्बर में एक रुपये से लेकर ऊपर तक के सभी नोट बदल दिए जाएँगे। बस, सारा काला धन बाहर आ जाएगा। कई लोगों का तो हृदय का दौरा पड़कर निधन भी हो जाएगा।

पर यह उपाय लेनेवाली सरकार, स्वच्छ, चरित्रवान, हिम्मतवाले लोगों की होनी चाहिए। हमारी सरकार ऐसी है क्या ? अभी स्वेच्छा से काला धन प्रकट करने की सरकार ने योजना बनायी, तब हमारे इस छोटे से गोवा के एक मन्त्री महोदय ने तो दो सौ करोड़ रुपये प्रकट कर दिये थे। इस पर से देश के 'बड़े' नेताओं का अन्दाज लगाना मुश्किल नहीं है।

काला धन जब तक बाहर नहीं आएगा, तब तक हमारा अर्थतन्त्र सही पटरी पर नहीं चल सकेगा और तब तक देश के चरित्र का स्तर भी ऊँचा नहीं उठ सकेगा।

83

ईश्वर को पाना है, कहनेवाले असल में क्या पाना चाहते हैं, समझ में नहीं आता। हम सत्ता, सम्पत्ति, ख्याति पाना चाहते हैं और इन्हें पाने की कोशिशों में लगातार लगे रहते हैं। क्या ईश्वर को पाना ऐसा ही कुछ पाना है? सत्ता, सम्पत्ति, ख्याति की फेहरिस्त में एक ईश्वर को जोड़ना है?

सत्ता, सम्पत्ति, ख्याति से आदमी जब उकता जाता है, इन सबसे मुझे मुक्त होना है, इससे बेहतर जो है वह मुझे पाना है, कहकर उसका हृदय जब व्याकुल हो उठता है तब 'नित्यऽनित्यानाम्' क्या है इसकी कुछ झाँकी उसे मिल जाती है और वही उसे 'रसानां रसतमः' मालूम होने लगता है। और तब हर क्षण पैदा होनेवाला, पैदा होकर जीता-सा दिखाई देनेवाला और देखते ही देखते अगोचर हो जानेवाला—यानी, अव्यक्त में से व्यक्त होनेवाला और फिर से अव्यक्त में जानेवाला—यह जो 'जगत्' हमारे चारों ओर फैला हुआ है, वह ईश्वर का ही धारण किया हुआ रूप तो नहीं है, यह प्रश्न वह अपने आपसे पूछता है और जवाब हाँ में मिलने पर वह अपने आसपास

की सृष्टि से सर्वत्र ईश्वर को 'देखने' लगता है।

ईश्वर को पाना अगर यही है तो मैं कहूँगा—फिर भले किसी को वह घमण्ड-सा लगे—उसे पाने की हर पल मैं कोशिश करता आया हूँ। यह जो मेरे सामने जगत है, उससे एकरूप होने के लिए हर पल मैं व्याकुल हो उठता हूँ। एकरूप होने के लिए मैंने ही कई अन्तराय खड़े किये हैं, वह देखता हूँ, तब इन अन्तरायों को दूर ठेलने की कोशिशें करता रहता हूँ। और इसमें असफल होता हूँ तब अन्दर ही अन्दर रोने लगता हूँ।

ईश्वर तो 'यह देखो, मैं तुम्हारे सामने ही हूँ' कहता है। और हम उसकी ओर तनिक भी देखे बिना कहते हैं, 'वह कहाँ है? वह है ही नहीं।' वह देता आया है। हम लेते ही नहीं। स्वार्थ की, अहंकार की, क्षुद्रता की अनेक दीवारें हम अपने इर्दगिर्द खड़ी कर लेते हैं और कहते हैं, इन दीवारों के उस ओर कुछ है ही नहीं।

रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' मुझे इसलिए अनोखी लगी है क्योंकि वह कहती है, ईश्वर की उपासना ईश्वर को 'पाने की' उपासना नहीं है। वह ईश्वर के चरणों में अपने को समर्पित करने की, अपने को शून्य बनाने की उपासना है।

हमने ईश्वर को पाया नहीं, क्योंकि ईश्वर को पाना क्या है, यह हमने कभी जाना ही नहीं।

84

गीता में जो है, वही आपको कुरान में मिलेगा। वही आप बाइबिल में पाएँगे। वही अवेस्ता में आप देखेंगे। इस बात को, कहाँ तक लोगों को हम बताते रहेंगे ? वेदों के समय से हम यही 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' सूत्र सुनते आये हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने सौ-सवा सौ साल पहले यही बात अपने ढंग से हमें कही थी और यही बात आधुनिक लोगों को बताने के लिए डॉ. भगवानदासजी ने 'एसेन्सियल यूनिटी ऑफ ऑल रेलिजन्स' नामक एक बड़ा ग्रन्थ भी लिखा था।

फिर भी धर्म एक-दूसरे के पास नहीं आये। सब अपने-अपने दायरे में ही रहे।

क्यों?

सभी धर्मों ने एक ही सत्य कहा है, यह सच है। सभी धर्मों का 'मिस्टिक' (रहस्यवादी) अनुभव एक ही है, यह भी सच है। इसलिए सभी धर्म सच्चे हैं। सभी धर्म हमें सदाचार की दीक्षा देते हैं, हमें 'अच्छे मानव' बनाते हैं, यह भी सच है। इसलिए सभी धर्म 'अच्छे' भी हैं। पर सभी धर्मों को एक-दूसरे के नजदीक लाने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है। उन्हें पास आने के लिए और एक-दूसरे को

प्रभावित करने के लिए और 'कुछ' उनमें होना आवश्यक है। यह हम उन्हें तब तक नहीं दे सकेंगे जब तक हम ' तुम सच्चे हो, अच्छे हो' यही उन्हें बारबार कहते रहेंगे। सच्चे हो, अच्छे हो, कहकर हम ज्यादा से ज्यादा सहिष्णुता का ही वायुमण्डल देश में पैदा कर सकेंगे। हिन्दू मुसलमानों को, मुसलमान हिन्दुओं को सिर्फ 'बरदाश्त' कर सकेंगे।

हम जो वायुमण्डल देश में निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए यह 'एक-दूसरे को बरदाश्त करना' पर्याप्त नहीं होगा।

सिर्फ गाँधी ने हमें कहा था, भाइयो, सभी धर्म सच्चे हैं, अच्छे हैं, यह बात सही है। पर यह धर्म लिये हैं हम लोगों ने—वह भी अलग-अलग जमानों में और अलग-अलग देशों में। मनुष्य स्वभाव की, जिस समय में वे पैदा हुए उस समय की और जिन देशों में वे पैदा हुए उन देशों के वायुमण्डल की परिसीमाओं में सभी धर्म बद्ध हैं। इसलिए सभी धर्म सच्चे और अच्छे होते हुए भी कच्चे रह गये हैं। अपूर्ण रह गये हैं। कच्चे धर्मों को पक्के बनाने का, अपूर्ण धर्मों को पूर्ण बनाने का काम हमें अब करना है। वह तभी होगा जब हम सभी धर्मों के अनुयायियों को एक-दूसरे के नजदीक लाएँगे, और उन्हें एक-दूसरे से लेन-देन के लिए प्रवृत्त करेंगे। कच्चे धर्म पक्के नहीं बनेंगे तो वे जीर्णपुरातन हो जाएँगे। पिछड़ जाएँगे। दकियानूसी बन जाएँगे और नष्ट हो जाएँगे।

सभी धर्मों को एक-दूसरे के नजदीक लाकर हमें उनका एक धर्म परिवार बनाना है। इस पारिवारिक वायुमण्डल में हिन्दू हिन्दू ही रहेगा, पर केवल हिन्दू नहीं रहेगा, केवल हिन्दुओं का भी नहीं रहेगा। मुसलमान मुसलमान ही रहेगा; पर महज मुसलमान नहीं रहेगा, महज मुसलमानों का भी नहीं रहेगा। सभी सबके होंगे। समुद्र से मिलने पर गंगा गंगा ही रहती है, कृष्णा कृष्णा ही रहती है, नर्मदा नर्मदा ही रहती है। कोई अपनी पहचान खोती नहीं है। वैसे ही सभी धर्म एक परिवार के होने पर भी कोई अपनी पहचान नहीं खोएँगे।

सभी धर्म कच्चे हैं इस बुनियाद पर ही धर्मनिरपेक्षता का, सर्वधर्म समभाव का—या घिसापिटा शब्द इस्तेमाल करके कहना हो तो, सॅक्युलरिज़्म का मूल्य हम देश में प्रस्थापित कर सकते हैं।

क्या गाँधी का यह एक 'मौलिक' योगदान नहीं है?

85

जिस तत्त्व से यह संसार बना है, वही मुझमें है, वही मेरे आसपास की सृष्टि में है, उसको पहचानना 'ज्ञान' कहा जाता है। केवल हमारे ही देश में नहीं, बल्कि दुनिया

के सभी देशों में।

इस ज्ञान को अज्ञान कहने वाले विद्वान दुनिया में हैं। पर उन्हें कोई मानता नहीं। मामूली लोग भी 'यह कुछ समझते नहीं' कहकर उनसे दूर रहते हैं।

क्यों? मैं इतना ही जानता हूँ, यह ज्ञान पाने की इच्छा मनुष्य के हृदय की इच्छा है, दिमाग की नहीं। और उसकी तृप्ति भी मनुष्य हृदय में ही पाता है, दिमाग में नहीं।

मेरे पिताजी 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' जितने भक्तिभाव से पढ़ते थे उतने ही भक्तिभाव से जलालुद्दीन रूमी की (फ्रांसीसी में अनूदित) कविताएँ और थॉमस ए कॅम्पिस की 'इमिटेशन ऑफ ख्राइस्ट' (पुर्तगाली में अनूदित) पढ़ते थे और कहते थे, यह लोग पढ़े-लिखे हों या न हों, ज्ञानी जरूर थे। इनका अनुभव ठोस है।

मुझे भी उपनिषदों के बारे में डॉ. राधाकृष्णन से अधिक गुरुदेव रानडे ने जो लिखा है वह अच्छा लगता है। वामन पण्डित से ज्ञानेश्वर मुझे अधिक पसन्द हैं। कबीर, सूर, मीरा, नानक, तुकाराम इन्हीं लोगों ने वह परमतत्त्व जाना था, ऐसा लगता है। और आन्तरिक तृप्ति के लिए स्वाध्याय में कोई पुस्तक हाथ में लेता हूँ तो इन्हीं में से किसी की लेता हूँ।

ईसा ने कहा था—Blessed are the pure in heart for they shall see God. कुशाग्र बुद्धिवाले व्यसंगी विद्वानों से जिनका चित्त शुद्ध हो, हृदय प्रेम से भरा हो, जो आन्तरबाह्य-शुचिभूत हो, वही ईश्वर के नजदीक पहुँचा है, मुझे ऐसा लगता है।

ब्रह्मविद्या पाने के लिए कुशाग्र बुद्धि पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को शुद्धचित्त (pure in heart) होना बहुत जरूरी है।

86

बच्चों को किस माध्यम में पढ़ाया जाए, यह तय करने का अधिकार किसका है? लोगों का? लोगों को यह अधिकार किसने दिया है? लोकतन्त्र ने? लोकतन्त्र क्या हमारे ही देश में चलता है? इंग्लैण्ड, अमरीका में नहीं चलता? वहाँ शिक्षा का माध्यम कौन-सा है? फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्पेन, जापान, चीन इन देशों ने शिक्षा का माध्यम कौन-सा चुना है? अपनी-अपनी प्रमुख देशी भाषा ही न? बच्चों को किस माध्यम में पढ़ाना चाहिए, क्या पढ़ाना चाहिए, यह इन देशों में लोग तय नहीं करते, सरकार करती है। और सरकार विशेषज्ञों की सलाह लेकर ही तय करती है।

फिर हमारे ही देश में लोकतन्त्र के नाम पर बच्चों पर अँग्रेजी माध्यम क्यों थोपा गया है? जवाब साफ है—हमारे देश में देशी भाषाओं की कोई कीमत नहीं है। उनके सिर पर राजमुकुट चढ़ाने से उनकी कीमत नहीं बढ़ती। उनके हाथ में राजदण्ड सौंप

देना चाहिए। और राजदण्ड तो हमने अँग्रेजी के हाथ में दे दिया है। देशी भाषाएँ भला शिक्षा का माध्यम कैसे बनेंगी? जिस भाषा के हाथ में राजदण्ड होता है वही शिक्षा का माध्यम बनती है। क्योंकि वही भाषा हमें छोटी-बड़ी सभी नौकरियाँ दिलाती है। वही भाषा प्रतिष्ठा की, वैभव की भाषा बनती है। आप 'मातृभाषा' का चाहे जितना महिमास्तोत्र गाते रहें, बाल-मनोविज्ञान पर चाहे जितने भाषण देते रहें, इस देश में जब तक राजदण्ड अँग्रेजी के हाथ में रहेगा, आपकी बात कोई नहीं सुनेगा। राजदण्ड देशी भाषाओं के हाथ में सौंप दीजिए, फिर आप देखेंगे किन पाठशालाओं में माँ-बाप अपने बच्चों को भेजते हैं। अँग्रेजी ज्ञान की भाषा है, अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की भाषा है वगैरह-वगैरह सारी बकवास अपने आप बन्द हो जाएगी।

भाषा की समस्या केवल शिक्षा के क्षेत्र की समस्या नहीं है, असल में वह प्रशासन के क्षेत्र की समस्या है। इतनी स्पष्ट बात देश के कर्णधारों के ध्यान में कैसे नहीं आती, ईश्वर जाने।

क्या सभी विद्वान जड़ हो गये हैं?

87

तैत्तिरीय उपनिषद में मुझे एक दीक्षान्त अभिभाषण 'कॉन्वोकेशन एड्रेस'—पढ़ने को मिला, जो पुराना होते हुए भी नया, ताजा, हराभरा-सा मालूम हुआ।

शिष्य की पढ़ाई पूरी हुई है। गुरु उसे बुलाकर कहता है, ''वत्स, तुम अब घर लौट रहे हो। जिस दुनिया में तुम जा रहे हो, वहाँ किस तरह के लोग तुम्हें मिलेंगे, बताना मुश्किल है। अच्छे ही मिलेंगे, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। किसी भी किस्म के मिलें, तुम्हारा बर्ताव तुम्हारे गुरुकुल को शोभा दे, ऐसा ही होना चाहिए। इसलिए यहाँ से जाने से पहले मैं तुम्हें एक पाथेय बाँधकर देता हूँ, जो जिन्दगीभर तुम्हारे काम आ सकेगा। सबसे पहले 'सत्यं वद'—हमेशा सच बोलो। तुम्हारे आसपास में चाहे जितना झूठ चलता हो, तुम कभी झूठ का सहारा मत लो। सच बोलने से तुम्हारा नुकसान हो, तुम पर मुसीबतें आ पड़ें तो भी हमेशा सच ही बोलो। जो हमेशा सच बोलता है उसके मुँह से निकले वचन कभी मिथ्या नहीं होते, यह बात सच ही है। जिस दुनिया में झूठ ज्यादा चलता है वहाँ हमेशा सच बोलनेवाला एक आदमी जाकर बसे तो समाज में उसके रहने से ही समाज बदल जाता है। झूठी दुनिया को सच की पट्टी पर लाने का दूसरा रास्ता नहीं है।

''दूसरी बात है—'धर्मं चर!' सबसे हमेशा इनसानियत से पेश आओ। किसी

पर अन्याय न होने दो। किसी का शोषण न होने दो। किसी का अपमान न होने दो। शर्म से तुम्हें सिर झुकाना पड़े, ऐसा कोई काम तुम्हारे हाथों न होने दो। लोगों ने जहाँ इनसानियत छोड़ दी हो वहाँ इनसानियत से चलनेवाला एक ही आदमी काफी है, लोग बदल जाएँगे।

''तीसरी बात 'स्वाध्यायात् मा प्रमद:'—यह मत समझो कि तुम्हारी पढ़ाई अब पूरी हुई है। पढ़ाई कभी पूरी नहीं होती। वह तो जिन्दगीभर चलती रहती है। यहाँ तो तुम्हें हमने एक दिशा दिखायी, एक दृष्टि दी है। आगे चलना अब तुम्हारा काम है। रोज कुछ न कुछ नया पढ़ते रहो। पढ़ाई में कोई ढिलाई न होने दो। जो नया कुछ नहीं पढ़ते वे मतिमन्द हो जाते हैं। उनकी बुद्धि भोथरी हो जाती है, उसकी धार कुन्द हो जाती है।''

यह गुरु पढ़ने और पढ़ाने के काम को बड़ा उच्च, उदात्त मानता है। वह कहता है—तुम सत्य का पालन करो, पर साथ-साथ पढ़ने-पढ़ाने का भी काम करते रहो। संयम का पालन करो, तप करो। साथ-साथ पढ़ने-पढ़ाने का भी काम करते रहो। शादी करो, गृहस्थी चलाओ, मेहमानों की सेवा करो। साथ-साथ पढ़ने-पढ़ाने का भी काम करते रहो। 'सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च, दमश्च, शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च।' पढ़ने-पढ़ाने का काम कहीं रुकना नहीं चाहिए। फिर कहता है—सभी नदियाँ समुद्र में जा मिलती हैं वैसे ही तुम्हें देखकर दुनिया के चारों ओर से नये-नये विद्यार्थी मेरे पास आते रहने चाहिए। तुम्हें देखकर उन्हें मेरे पास पढ़ने के लिए आने की प्रेरणा मिलनी चाहिए।

अन्त में वह एक बहुत बड़ी बात कहता है—दुनिया में बड़े, अच्छी चालचलन वाले, संयमी, बुद्धिमान लोग तुम्हें मिलेंगे। उनसे लेने लायक जो भी मिले, बिना हिचकिचाहट लेते रहो। मुझसे भी लेने लायक जो मिले, लेते जाओ। पर हाँ, आँखें मूँदकर नहीं। विवेक जाग्रत रखकर लेते रहो। यानी 'अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। एष आदेश:। एष उपदेश:। एषा वेदोपनिषद्!' यही तुम्हें आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद उपनिषद का रहस्य है।

उपाधि प्रदान के समय पर आज के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों को किस तरह की नसीहत दी जाती होगी, पूछना पड़ेगा किसी विद्यार्थी से।

88

महाभारत का यह एक हिस्सा है—

पाण्डवों का उत्कर्ष देखकर धृतराष्ट्र द्वेष से जलने लगता है। उसकी नींद हराम

हो जाती है। उसके दरबार में कणिक नामक एक विद्वान था। धृतराष्ट्र उसे बुलाता है और कहता है, मुझसे पाण्डवों का उत्कर्ष देखा नहीं जाता। क्या मैं उनको अपना बनाने की कोशिश करूँ या उन्हें दुश्मन समझकर ही उनसे पेश आऊँ? मेरे हित की बात आप मुझे बता दीजिए।

और कणिक कहता है—

दुर्योधन और भीम के बीच की दुश्मनी देखकर लगता है, दोनों में से एक कोई बिना मरे वह खत्म होने वाली नहीं है। वैसी ही दुश्मनी अर्जुन और कर्ण के बीच की है। दुश्मन तीन तरह के होते हैं। एक, हमसे कमजोर। दूसरे बराबरी के, तुल्यबल। और तीसरे, हमसे बलवान। तीनों के साथ तीन तरह से पेश आना चाहिए। दुश्मन कोई भी हो, उसे खत्म ही कर देना चाहिए। शान्तिकाल में भी हमारी तलवार उसके सिर पर लटकती रहनी चाहिए। कमजोर दुश्मन को हमेशा डराते रहना चाहिए। बराबरी के दुश्मन को हमारे बल का अन्दाज तनिक भी लगने नहीं देना चाहिए। और बलवान को हमारी कमजोरी का पता लगना ही नहीं चाहिए। दुश्मन पर हाथ उठाने पर उसे उसी क्षण खत्म कर देना चाहिए। अधमुआ कभी नहीं छोड़ना चाहिए। कमजोर को कमजोर समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आग की छोटी-सी चिनगारी भी पूरे वन को जला देती है यह नहीं भूलना चाहिए। कमजोर दुश्मन भले ही हमारे पाँव पकड़े, मौका मिलते ही वह हम पर कूद पड़ सकता है। दुश्मनों के दोष हमेशा ढूँढ़ते रहना चाहिए। और मौका मिलते ही खोलकर दुनिया के सामने रखने चाहिए। जरूरत पड़ने पर उसे सिर पर उठाना चाहिए। पर मौका मिलते ही उसे जमीन पर पटककर मार डालना चाहिए। दुश्मन कोई भी हो, भाई हो, बाप हो, बेटा हो, गुरु हो, शिष्य हो; दुश्मन हमेशा दुश्मन ही होता है। उससे कभी समझौता नहीं करना चाहिए।

कहते हैं यह कणिक वही भारद्वाज है जिसका जिक्र चाणक्य ने देश के प्राचीन राजनीति विशारद के रूप में अपनी पुस्तक में किया है। दुनिया-भर के राजनीतिज्ञ कणिक पन्थ के ही हैं।

बीसवीं शताब्दी में हमारे देश में एक ऐसा राजनीति विशारद पैदा हुआ जो कहता था—

आज का हमारा दुश्मन हमेशा दुश्मन रहनेवाला नहीं है, कल वह हमारा दोस्त बन सकता है, इस श्रद्धा से ही हमारे तथाकथित दुश्मनों से हमें पेश आना चाहिए। वह दूर गया है, उसे पास लाने की कोशिश करनी चाहिए। उसके छिद्र मालूम हों तो भी वह दुनिया के सामने कभी खोलने नहीं चाहिए। उसकी गलतियों की उसे कभी भी याद दिलानी नहीं चाहिए। उसकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए। निन्दा नहीं करनी चाहिए। और उसके कमर के नीचे तो कभी भी वार नहीं करना चाहिए।

कणिक नीति से यह बिलकुल उल्टी नीति है। और यह भूलना नहीं चाहिए

कि हमेशा कणिक नीति से चलते आये अँग्रेजों के सामने वह कारगर साबित हुई है।

89

क्या सचमुच जमाना बदल गया है? मुझे तो कहीं पर भी उसके आसार दिखाई नहीं देते।

मान लीजिए, आपके गाँव में एक दुकानदार है। वह बाहर से अच्छा माल ले आता है और यहाँ उसमें दूषित माल मिलाकर वह दुगुने दाम में बेचता है। क्या आप उसे धोखेबाज नहीं कहेंगे? दो सौ, पाँच सौ साल पहले भी लोग उसे धोखेबाज मानते थे, दो सौ, पाँच सौ साल बाद भी धोखेबाज ही मानेंगे।

बताइए, जमाना कहाँ बदला है?

जो डॉक्टर मरीज को दवा देकर रोगमुक्त करने के बदले उसका मर्ज जारी रखता है, बढ़ाता रहता है और उससे पैसे ऐंठता रहता है, उसे पाँच-सौ साल पहले के भी लोग अच्छा डॉक्टर नहीं मानते थे, आज भी नहीं मानते। आयन्दा भी माननेवाले नहीं हैं।

चोर, लुटेरे, धोखेबाज हमेशा चोर, लुटेरे, धोखेबाज ही माने गये हैं, आज भी माने जाते हैं, भविष्य में भी चोर, लुटेरे धोखेबाज ही माने जाएँगे।

चरित्रहीन राजनीति में कोई चरित्रवान नेता दिखाई दे, भ्रष्ट प्रशासन में कोई स्वच्छ अधिकारी दिखाई दे, तो आज भी हम उसकी प्रशंसा करते हैं जैसे पहले के जमाने में की जाती थी। सत्यनिष्ठ, नि:स्वार्थी, त्यागी समाजसेवक के सामने आज भी हम सिर झुकाते हैं, जैसे पहले लोग झुकाते आये थे।

अब बताइए, जमाना कहाँ बदला है?

जमाना बदलना चाहिए था। बदलना उसका धर्म है। पर मालूम होता है, कम से कम इस देश में उसकी गति रुक गयी है। मसलन आज भी हम जन्मपत्रिकाएँ देखकर रिश्ते पक्के करते हैं या तोड़ते हैं। आज भी हम अँगूठियों पर तरह-तरह के रत्न मढ़कर शनि, मंगल, गुरु का हम पर होनेवाला प्रभाव कम करने की या बढ़ाने की कोशिश करते हैं। आज भी हम ऐसे सनकी ईश्वर को मानते हैं, जो प्रसन्न होने पर बिना माँगे सब कुछ दे देता है और नाराज होने पर तरह-तरह की सजाएँ फर्माता है। आज भी हम धर्म के नाम से एक-दूसरे से झगड़े करते हैं। और मन्दिर, मस्जिद, गिरजा जमींदोज करते हैं। आज भी हम उतने ही अनाड़ी, उतने ही गँवार, उतने ही अन्धविश्वासी, उतने ही दकियानूसी और उतने ही मूर्ख हैं जितने दो ढाई-हजार साल पहले थे।

हाँ, जमाने का एक बदलाव जरूर दिखाई देता है। पहले छल-कपट करते थे तब हमें शर्म महसूस होती थी। आज हम बेशरम होकर कहते हैं, 'इसमें नयी बात क्या है, यह तो हमेशा चलता आया है।' पहले हम शराब चोरी-छिपे पीते थे। आज खुलेआम पीते हैं। न पीनेवाले को 'पिछड़ा हुआ' मानते हैं। सत्ताधीशों से कुछ पाने के लिए पहले जब हम उनके सामने कुत्ते की तरह दुम हिलाते खड़े रहते थे तब हमारी नाक कट जाती थी। आज हम व्यवहारशास्त्र की दुहाई देकर कहते हैं, 'ऐसा नहीं करेंगे तो हमारे सब काम रुक जाएँगे।'

आज देश में चरित्र, त्याग, तपस्या, विद्वत्ता की कोई कीमत नहीं है। वह इसलिए नहीं कि जमाना बदल गया है बल्कि इसलिए कि हम गिर गये हैं।

मगर क्या हमारे अधःपतन की जिम्मेदारी 'बदले हुए जमाने के' सिर पर डालकर हम मुक्त हो सकेंगे?

जमाना बदलता है। वह या तो हमें ऊपर ले चलता है या नीचे गिराता है। चढ़ने की हमारी तैयारी न हो तो गिरना हम टाल नहीं सकेंगे।

हम गिर गये हैं, यह कबूल किये बिना चारा नहीं है।

90

बड़ा आदमी बनने की अभिलाषा सबमें होती है। होनी भी चाहिए। कम से कम युवकों में। यह अभिलाषा जिसमें नहीं है, वह कभी बड़ा नहीं हो सकता।

और अपने आप तो कोई बड़ा नहीं होता।

लेकिन बड़ा यानी किससे बड़ा ? स्पष्ट है, दूसरों से। यह 'दूसरे' अकसर हमारे आसपास के ही लोग होते हैं। बड़ा होने के लिए हम उनसे मुकाबला करने लगते हैं, उनसे स्पर्धा में उतरते हैं। और यहीं हम गिर पड़ते हैं। हम इन दूसरों को हमसे छोटे, तुच्छ, नाचीज, मामूली बताने की कोशिशों में ही लगे रहते हैं। साहित्यकारों, कलाकारों, संगीतकारों के बीच ऐसे कई 'बड़े' लोग हमें देखने को मिलते हैं, जिनका सारा समय अपनी स्तुति और दूसरों की निन्दा करने में ही खर्च होता है।

असल में यह बहुत छोटे लोग हैं।

बड़ा होने के लिए किसी से मुकाबला या किसी से प्रतिस्पर्द्धा करने की कोई जरूरत नहीं है। मुकाबला करना ही है तो अपने आपसे करना चाहिए। कल मैं यहाँ था, आज वहीं हूँ या आगे गया हूँ, यह देखना चाहिए। और कल से आज आगे जाने की कोशिश करनी चाहिए। यह भीतरी, आन्तरिक, अन्तरतम की यात्रा है । सही माने में बड़े लोग इसी रास्ते पर चलकर बड़े हुए हैं।

कई लोग पदवियाँ पाने की कोशिश करते हैं और पाने पर दूसरों से अपने को बड़ा मानने लगते हैं। असल में यह लोग एल्युमिनियम निकेल जैसे मामूली धातुओं से बने हुए होते हैं, जिन्हें टकसाल में जाकर दस पैसे, पच्चीस पैसे, पचास पैसे ऐसी मुहरें लगानी पड़ती हैं। सोने को इस तरह की मुहर की कोई जरूरत नहीं रहती। उसकी कीमत स्वयं सिद्ध है। कल्पना कीजिए, डॉ. लोहिया 'भारतरत्न' बनाये जाते, तो क्या वे जो थे, उससे बड़े होते ? और कभी न बनाये गये तो क्या किसी भारतरत्न से वे कम योग्यता के हैं? वे स्वनामधन्य थे।

दो अँग्रेजी शब्दों की मदद लेकर यह बात स्पष्ट करना चाहूँगा—जो असल में 'ग्रेट' होता है वही 'ग्रेटर' और 'ग्रेटेस्ट' बन सकता है। जो असल में 'स्मॉल' है वह कभी 'ग्रेट' नहीं होता, 'स्मॉलर' और 'स्मॉलेस्ट' ही बन जाता है।

91

जिनका नाम अखबारों में आता है, जो विख्यात हैं वही लोग बड़े और प्रतिष्ठित होते हैं, यह ख्याल बिलकुल गलत है।

प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा एक नहीं हैं।

प्रसिद्धि तो किसी को भी मिलती है। प्रतिष्ठा हर किसी को नहीं मिलती। जनता पार्टी के जमाने में राजनारायण को क्या कम प्रसिद्धि मिली थी। पर क्या वे प्रतिष्ठा पा सके थे?

प्रतिष्ठा पाने के लिए तपस्या की आग से गुजरना पड़ता है, चरित्र की कड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है। कभी-कभी बरसों बाद, वह मिलती है। पर एक बार मिलने पर वह कभी घटती नहीं, दिन-ब-दिन बढ़ती ही रहती है। प्रसिद्धि तो अचानक मिलती है, और दूसरे ही क्षण गायब हो जाती है।

प्रतिष्ठा तुम्हारे बड़प्पन को लगी सामाजिक मान्यता की मुहर है।

समाज तुम्हें पहचानने में शायद देर लगाए, पर तुम्हारी बिलकुल उपेक्षा वह कभी नहीं करेगा। उसके पास कसौटी का एक पत्थर है, जिस पर वह तुम्हें घिसकर देखेगा, परखेगा, जाँच लेगा। और तुम्हारी जगह तय करेगा। जीते-जी तुमने चाहे जो जगह रोक ली हो, तुम्हारी असली जगह वह तुम्हें बता ही देगा। तुम अपने आपको धोखा दे सकते हो, समाज को धोखा कभी नहीं दे सकोगे। वह कड़ा परीक्षक है। उसकी परीक्षा में तुम उत्तीर्ण हुए तो शायद वह तुम्हारा नाम भी न ले। पर तुम्हारा स्थान वह सबको महसूस करवा ही देगा।

असली प्रतिष्ठा यही है। लोगों को 'महसूस होना चाहिए' कि तुम बड़े हो।

सिर्फ तुम्हारे परिचितों को नहीं, मित्रों को ही नहीं, बल्कि तुम्हारे आलोचकों को, या कहो, तुम्हारे शत्रुओं को भी गहराई से महसूस होना चाहिए कि तुम वाकई बड़े हो और अन्दर ही अन्दर उन्हें इस प्रतीति से जलन होनी चाहिए।

92

किस उद्देश्य से हमें जीना चाहिए, हमें कोई नहीं बताता। हम पैदा होते हैं, बड़े होते हैं, कुछ पढ़ते हैं, कुछ न कुछ काम करते रहते हैं। शादी करते हैं, हमारे यहाँ बच्चे पैदा होते हैं, उनकी हम परवरिश करते हैं और उन्हें भी कहीं न कहीं काम में लगा देते हैं। क्या इसे 'जीना' कहते हैं? इस तरह का जीवन तो सभी पशु-पक्षी जीते आये हैं। हमारे सामने जीने का और कोई मकसद होना चाहिए।

'जीवित रहना' अलग चीज है और 'जीना' बिलकुल अलग चीज है।

आज के पशु-पक्षियों में और पाँच हजार साल पहले के उनके पूर्वजों में कोई खास फर्क नहीं दिखाई पड़ता। पाँच हजार साल से वे एक ही तरह पुश्त-दर-पुश्त जीते आये हैं। किसी भी पशु-पक्षी ने अपनी कोई संस्कृति नहीं बनायी है। किसी का कोई इतिहास नहीं है। मनुष्य ही ऐसा एक प्राणी है, जिसने अपनी संस्कृति बनायी है, अपना इतिहास निर्माण किया है। पाँच हजार साल पहले की बात छोड़िए, पाँच सौ साल पहले के हमारे पूर्वजों और हममें काफी फर्क है। हमारे बीच जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है। मनुष्य ऐसा प्राणी है कि उसे अच्छे-बुरे की पहचान है और दोनों में से एक का वह स्वेच्छा से चुनाव भी कर सकता है। इसी एक विशेषता के कारण वह अन्य प्राणियों से अलग नजर आता है। वह या तो सुसंस्कृत हुआ है या विकृत हुआ है। प्राकृतिक अवस्था में वह रह नहीं सका है।

यह एक बात स्पष्ट हो जाए तो जीना किसे कहते हैं, आसानी से समझ में आ जाएगा। हमारे पूर्वजों ने जोताई-बोआई करके संस्कृति का जो खेत हमें विरासत में दिया है उसमें निराई करके पौधों की बढ़ती को रोकनेवाली घास खोदकर फेंक देना और जो रखने लायक है, बढ़ाने लायक है उसका खाद-पानी से पोषण करना यही हमारे जीवन का मकसद है।

मनुष्य को इस तरह जीना चाहिए कि मृत्यु के समय वह सन्तोष के साथ यह कह सके, 'मेरे जन्म के समय मेरा समाज संस्कृति के जिस स्तर पर था उससे काफी ऊँचे स्तर पर वह आज पहुँचा है। और उसके इस आरोहण में मेरा भी कुछ योगदान रहा है।'

संस्कृति के दो अंग हैं। एक, बाहरी, भौतिक। दूसरा, अन्दरूनी, आध्यात्मिक। दोनों महत्त्व के हैं। दोनों को पोषण मिलते रहना चाहिए। तभी संस्कृति का सन्तुलित विकास हो सकता है।

पर, दोनों महत्त्व के होते हुए भी एक नहीं हैं, यह बात भूलनी नहीं चाहिए। संस्कृति का भौतिक अंग टिक नहीं पाता। वह मायावी है, भ्रान्तिजनक है।

मान लीजिए, भारत किसी बड़ी आपदा का शिकार हो जाता है और उसमें वाल्मीकि से लेकर रवीन्द्रनाथ तक की हमारी सारी विरासत नष्ट हो जाती है। रामायण, महाभारत, गीता, भागवत, उपनिषद, बुद्ध, कालिदास, भवभूति, रवीन्द्रनाथ सबका नामोनिशान गायब हो जाता है। तब क्या भारत, भारत रह सकेगा? उसकी भूमि रहेगी। वह भारत के नाम से ही पहचानी जाएगी। उसके उत्तर की ओर उत्तुंग हिमालय रहेगा। उसके तीनों ओर महासागर गरजता रहेगा। फिर भी वह 'भारत' नहीं होगा। इसके विपरीत मान लीजिए, मुम्बई, कोलकाता, दिल्ली, चेन्नई, सभी शहर जलकर खाक हो जाते हैं, सिर्फ उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत, भागवत, बुद्ध, कालिदास, भवभूति, रवीन्द्रनाथ, गाँधी बच जाते हैं; तब भारत 'भारत' ही रहेगा। इसका मतलब यह हुआ कि भारत उसकी आध्यात्मिक-सांस्कृतिक विरासत के कारण ही भारत बना है। यह विरासत उसका प्राण है। प्राण रहा तो वह नया शरीर लेकर जीने लगेगा।

इस विरासत को समृद्ध बनाने के लिए ही हमें अब जीना चाहिए। समृद्ध बनाने के लिए आज की परिस्थिति हर तरह से अनुकूल है। पाँच शताब्दियों पहले हम सिर्फ भारत में ही रहते थे। आज 'भूर्भुवः स्वः' में रहने लगे हैं। सुबह मुम्बई से उड़कर नाश्ते के लिए काहिरा में, दोपहर के भोजन के लिए लन्दन में और रात को सोने के लिए न्यूयार्क में नित्य नियमित रूप से जानेवाले कई भारतीय आज देखने को मिलते हैं। आज हम 'माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः' यानी पृथ्वी मेरी माँ है, और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ, यथार्थ रूप से कह सकते हैं। पृथ्वी पुत्र बनना आज हमारी महज अभिलाषा नहीं रही है, बल्कि एक ठोस हकीकत बन गयी है। आज केवल वाल्मीकि से लेकर रवीन्द्रनाथ तक की ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया की संस्कृति हमें विरासत में मिली है। आज हम अपनी संस्कृति को नये परिणाम दे सकते हैं। आज किसी देश विशेष का अभिमानी होना, किसी एक धर्म परम्परा में अपने को उलझा रखना हमें शोभा नहीं देगा। विनोबा कहते थे—दुनिया भर के सत् विचारों का रस चखना हमारा स्वाध्याय होना चाहिए और भिन्न-भिन्न मत वालों के बीच समन्वय प्रस्थापित करना हमारी साधना होनी चाहिए।

यही आज की हमारी विरासत है और यही आज की हमारी जिम्मेवारी भी है।

कुछ अजीब-सा लगा जब हमारे यहाँ मेहमान के रूप में आये अँग्रेज युवकों ने बताया कि वे शुद्ध शाकाहारी हैं।

मैंने कहा, ''सुना था कि एक जमाने में इंग्लैण्ड में केवल बर्नार्ड शॉ ही शाकाहारी थे।''

''नहीं, नहीं, अब तो सैकड़ों शाकाहारी आपको इंग्लैण्ड में मिलेंगे। हम सब 'पेटा' यानी 'पीपुल फॉर एथिकल ट्रीटमेण्ट टु एनीमल्स' (जीवों के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने वाले लोग) के सदस्य हैं। हम वहाँ एक बड़ा आन्दोलन चलाते हैं। आरोग्य की, नीति की, पर्यावरण की दृष्टि से शाकाहार ही मनुष्य के लिए उचित आहार है, ऐसा हम मानते हैं। जैसे हम मरना नहीं चाहते, वैसे कोई पशु-पक्षी मरना नहीं चाहता। इसलिए किसी को मारना नहीं चाहिए—खाने के लिए तो हर्गिज नहीं मारना चाहिए, यह हमारा बुनियादी सिद्धान्त है। संस्कारी मनुष्य का आहार भी संस्कारी ही होना चाहिए। हमारे आन्दोलन का प्रभाव अब बढ़ता जा रहा है।''

मैंने पूछा, ''आप लोगों के इस आन्दोलन की जानकारी देनेवाला क्या कोई पर्चा ले आये हो साथ में?''

''ले आये थे, पर कलंगूट और कोल्वा के समुद्र किनारे पर आये हुए सैलानियों में बाँट दिये। एक पुस्तक बची है। वह हमारे आन्दोलन की जानकारी तो नहीं देती, पर मांसाहार के विरोध में कई तर्क पेश करती है। आपको पसन्द आएगी।'' कहकर उन्होंने मुझे एक पुस्तक दी। पुस्तक का नाम था—'डायट फॉर न्यू अमेरिका' और उसके लेखक का नाम था जॉन रॉबिन्स। पुस्तक पढ़कर मेरी तो नींद ही हराम हो गयी। वह कहती है—

एक पौण्ड 'बीफ' तैयार करने के लिए अमेरिका को सोलह पौण्ड अनाज, पच्चीस सौ गैलन पानी और एक गैलन पेट्रोल खर्च करना पड़ता है। मांस देनेवाले पशु-पक्षियों को जो खिलाना पड़ता है, उससे सौ करोड़ लोगों की भूख का शमन हो सकता है। अमेरिका अगर अपनी रोज की खुराक में से दस प्रतिशत खुराक कम कर दे तो हर साल दस करोड़ भूखे लोगों की भूख का शमन हो सकेगा। एक पौण्ड गेहूँ पैदा करने के लिए जो पानी लगता है उससे सौ प्रतिशत अधिक पानी एक पौण्ड बीफ तैयार करने के लिए लगता है। मांस देने वाले पशु-पक्षियों को पालने के लिए अमेरिका ने अपने आश्रित मॅक्सिको, ब्राजील जैसे देशों के करीब एक करोड़ एकड़ जंगल सफाया किये हैं। अमेरिका अपने रोजमर्रा के उपयोग में जो पेट्रोल, गैस, कोयले खर्च करता है, उसके केवल पाँच प्रतिशत खर्च में तीसरी दुनिया के सभी लोगों के लिए पर्याप्त चावल, गेहूँ, तरकारी, फल वगैरह पैदा किये जा सकते हैं...

एक दिलचस्प बात पढ़ने को मिली—

आदमी जिनका मांस खाता है, वे सभी शाकाहारी प्राणी होते हैं। मांसाहारी प्राणियों का मांस आदमी नहीं खाता। यह पुस्तक कहती है, इन शाकाहारी पशु-पक्षियों को पालने के लिए जो जमीन हम घेरते हैं उससे आधी जमीन दुनिया भर के शाकाहारी लोगों के लिए अन्न-धान्य, सब्जी, भाजी, फल आदि पैदा करने के लिए काफी है। खाने योग्य मांस देनेवाले शाकाहारी प्राणियों को खिलाने के लिए हम जमीन घेरें, फिर उनका मांस खाएँ इस द्राविड़ी प्राणायाम की क्या जरूरत है? अन्न-धान्य, शाक-भाजी, फल आदि सीधा हमारे ही पेट में क्यों न जाए? सेकेण्ड हैण्ड अनाज हम क्यों खाएँ?

दुनिया में भारत ही एक देश था, जहाँ पिछले ढाई हजार वर्षों से शाकाहार से चिपके हुए लाखों लोग रहते आये थे। उसी देश में अब यह अँग्रेज युवक आकर हमसे कहने लगे हैं, ''भाई, मांसाहार छोड़ो, शाकाहार अपनाओ, तुम्हारी सेहत भी अच्छी रहेगी, तुम्हारी आयु भी बढ़ेगी, और पर्यावरण भी साफ रहेगा।''

तकदीर का कितना बड़ा खेल है यह!

95

क्या गाँधीजी रूढ़िवादी, दकियानूसी थे?

वे रूढ़ भाषा में बोलते अवश्य थे क्योंकि उन्हें उन्हीं लोगों से काम लेना था, जो यही भाषा समझते थे। पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में बोलते तो समाज के निचले स्तर पर वे कभी पहुँच ही न पाते। पर पुरानी भाषा में वे नया प्राण उँड़ेलते थे। नया प्राण मिलने पर पुराना पुराना नहीं रहता, नया बन जाता है। और नया होने पर वह शरीर भी नया धारण करके आगे आता है। वे कितने 'रैडिकल' (क्रान्तिकारी) थे, इसके लिए एक ही उदाहरण काफी है।

प्राचीन काल से इस देश में स्त्री पुरुषों के आश्रय में रही, जो या तो उसकी 'दासी' बनी या 'देवता' बनी। उसे अपनी बराबरी का किसी ने नहीं माना। अध्यात्म के क्षेत्र में तो 'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी' यही उसकी प्रतिष्ठा रही। पाँच हजार साल की हमारी संस्कृति के इतिहास में सिर्फ गाँधीजी ने ही उसे कहा : देखो, स्त्री के बिना पुरुष अधूरा रह जाता है, स्त्री के साथ में ही वह पूर्ण होता है। वैसे ही पुरुष के बिना स्त्री भी अधूरी रह जाती है। पुरुष के साथ ही वह पूर्ण होती है। आज इस देश का पुरुष भी अधूरा है। स्त्री भी अधूरी है। घर से बाहर आओ। जितने भी क्षेत्र पुरुष ने

रोक लिये हैं, सब तुम्हारे भी हैं। दिमाग से सबसे पहले यह बात निकाल दो कि तुम अबला हो। तुम अबला नहीं हो। तुम बहादुर हो, बहादुर बन सकती हो।

और उन्होंने स्त्रियों को आजादी की लड़ाई में शामिल कर लिया। यही नहीं, लड़ाई के मोर्चे में उन्हें सबसे आगे रखा।

स्त्रियों को आगे लाने का काम देश में इससे पहले कई सुधारकों ने किया था। पर वे उन्हें सिर्फ पढ़ा सके थे और पढ़ाकर नर्स, डॉक्टर, अध्यापिकाएँ, प्राध्यापिकाएँ बना सके थे। बहादुर कोई नहीं बना सका था। सिर्फ गाँधीजी ही उन्हें बहादुर बना सके। यह कोई मामूली सुधार नहीं था। यह क्रान्ति थी। और यह क्रान्ति उन्होंने स्त्रियों के सामने 'अर्धनारीश्वर शिव' का चित्र रखकर ही की थी। उनकी भाषा पुरानी थी। पर जो फल मिला उसने भारतीय स्त्री को जड़मूल से बदल डाला।

गाँधीजी के प्रभाव में आयी हुई स्त्री अपने पति की 'दासी' नहीं रही है। न वह किसी की 'देवता' बनी है। वह अपने को पुरुष की अर्धांगिनी मानती है। कर्तव्य और अधिकार दोनों क्षेत्रों में वह पुरुष के बराबरी के स्तर पर ही रही है।

क्या यह किसी रूढ़िवादी या दकियानूसी नेता का काम है? इस तरह का काम सुधारक भी नहीं कर सकता। वह तो एक क्रान्तिकारी ही कर सकता है।

लगता है, अपने को क्रान्तिकारी माननेवाले हमारे विचारक स्वयं एक तरह के रूढ़िवादी बन गये हैं।

96

खूबसूरत स्त्री को देखकर विकारवश होना, कहते हैं, स्वाभाविक है। पर हमारी बहन, बेटी या माँ मेनका उर्वशी से भी अधिक खूबसूरत हों तो क्या हम उनको देखकर विकारवश होते हैं ? नहीं न? क्यों ? क्योंकि वह हमारी बहन, बेटी या माँ होती हैं। तो फिर कहना होगा कि जिसे हम शारीरिक आकर्षण कहते हैं, वह शारीरिक नहीं है, बल्कि मानसिक है। और अगर वह मानसिक है तो सभी स्त्रियों की ओर बहन, बेटी या माँ की दृष्टि से देखना मुश्किल नहीं होना चाहिए। मन को वैसी तालीम देनी चाहिए। खूबसूरत स्त्री के प्रति विकारवश होना अन्य प्राणियों के लिए भले ही स्वाभाविक हो, मनुष्य के लिए नहीं है। मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह प्राकृतिक अवस्था में नहीं रहा है। वह ऊपर चढ़ा है।

उसकी गति शुरू से ही ऊर्ध्वगामी रही है।

भूख लगने पर खाने की इच्छा अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य को भी होती है। पर मनुष्य कभी-कभी भूख लगने पर भी खाने से इनकार करता है (खासतौर से अपना

कोई आत्मीय गुजर जाता है तब)। कभी-कभी भूख न होने पर भी खाने के लिए तैयार हो जाता है (खासतौर से नाती-पोते के जन्मदिन की पार्टी में)। मनुष्य की यह विशेषता है कि उसकी इच्छा प्रकृति के अपने अधीन नहीं, बल्कि उसके अपने अधीन रही है। भोग और संयम दोनों सामने रहने पर वह सोचेगा, 'भोग मुझे गिरा देगा' कहेगा और संयम का रास्ता अपनाएगा। गुस्सा आने पर भी वह सोचेगा, 'गुस्सा मुझे गिरा देगा' कहेगा और गुस्से पर नियन्त्रण रखेगा।

'स्वाभाविक' कहकर उसके कमजोर अंगों को पोषण देना उचित नहीं है। वह ऊपर चढ़ने की कोशिश करता है तब 'यह तो महात्माओं का रास्ता है' कहकर उससे पाँव खींचना उचित नहीं है। जिन्हें हम स्वाभाविक आदर्श मानते हैं, वही असल में अ-स्वाभाविक आदर्श हैं। जिन्हें हम 'अति-मानुषी' आदर्श समझते हैं, वही उसके लिए स्वाभाविक हैं।

दूध में जामन मिलाने पर उसका दही बनता है। दही छानने से मक्खन मिलता है। मक्खन उबालने पर उसका घी बनता है। घी बनने से दूध इनकार करे तो वह फट जाएगा। वैसे मनुष्य 'मनुष्य' बनने से इनकार करे तो वह विकृत हो जाएगा।

और पशु से भी बदतर हो जाएगा।

97

हमारे इस धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक समाजवादी देश में किसी भी अस्पताल में तेरह नम्बर की खाट नहीं मिलेगी। किसी भी होटल में तेरह नम्बर का कमरा नहीं मिलेगा। हवाई जहाज में तेरह नम्बर की 'सीट' नहीं मिलेगी।

क्योंकि तेरह नम्बर हमारे यूरोपीय गुरुओं ने अशुभ माना है।

क्या यह अन्धानुकरण नहीं है?

यूरोपीय लोगों से लेने लायक बहुत-सी चीजें थीं। मसलन अपनी-अपनी भाषाओं के प्रति बेहद भक्ति बिना हिचकिचाहट हम उनसे ले सकते थे। लेते तो कहीं के कहीं पहुँच जाते। अँग्रेजी की गुलामी से चिपके रहने की जरूरत ही महसूस नहीं करते। विज्ञान, टेक्नॉलॉजी वगैरह सब कुछ अपने-आप पीछे आ जाता। हमने तो जो लेने लायक है उससे अधिक लेने की कोई जरूरत नहीं थी, वही चीजें ली हैं।

मसलन जब कोई गुजर जाता है तब श्मशान में भाषण देने की प्रथा हमने शायद उन्हीं से ली है। यह एक पाखण्डी ढोंगी प्रथा है। वह कानूनन अवैध घोषित करनी चाहिए। मृतक को श्रद्धांजलि अर्पित करते समय 'ईश्वर उसकी आत्मा को शान्ति बख्शे' कहने की एक और प्रथा हमने उनसे ली है। ईसाइयों और मुसलमानों के लिए

यह माँगना ठीक है। क्योंकि उनकी आत्माएँ कयामत के दिन के इन्तजार में कब्र में बेचैन रहती हैं। हिन्दुओं की आत्माएँ भी क्या कयामत के दिन के इन्तजार में बेचैन रहती हैं ? सुना था, आत्मा या तो नया जन्म लेती है या मोक्ष पाती है।

अन्धानुकरण की क्या कोई हद ही नहीं होती ? या अन्धानुकरण ही आधुनिकता का दूसरा नाम है ?

98

गाँधी जी के जीवन से प्रभावित होकर इंग्लैण्ड के नाविक दल के एक अफसर की बेटी मॅडेलिन स्लेड भारत आकर गाँधीजी के पास रहने लगी। गाँधीजी ने उसको अपनी बेटी के रूप में स्वीकार किया और उसे एक देशी नाम भी दिया। वह मीरा बहन के नाम से जानी जाने लगी। हालाँकि वह आश्रमी जीवन में पूर्णरूप से घुलमिल गयी थी। फिर भी एक दुविधा उसको लगातार सताती रही। एक रोज वह गाँधीजी के पास आकर कहने लगी, ''मुझे आप हिन्दू बना लीजिए, मैं हिन्दू बनना चाहती हूँ। वरना आश्रम के मेरे सहयोगी मुझे पूर्ण रूप से अपनी नहीं मानेंगे।''

गाँधीजी ने उससे कहा, ''तुम ईसाई धर्मपरम्परा में पैदा हुई हो। हिन्दू धर्म में जो भी लेने लायक लगे, सब बेखटके आत्मसात कर लो पर ईसाई ही बनी रहो। अच्छी से अच्छी ईसाई बनो। ईसाई बेटी के रूप में ही तुम मुझे अधिक प्रिय लगोगी।''

गाँधीजी ने उसे हिन्दू बनने नहीं दिया।

धर्मान्तरण का मतलब है, एक धर्म से दूसरा धर्म अच्छा है, ऐसा मानना। कोई भी सर्वधर्म-समभावी ऐसा नहीं मानता। वह सभी धर्मों को समान रूप से अच्छा मानता है और सभी धर्मों को समान रूप से कच्चा मानता है। सर्वधर्म-समभावी धर्मान्तरण का पक्षधर कभी नहीं हो सकता। धर्मान्तरण को कभी प्रोत्साहन नहीं दे सकता। धर्मनिरपेक्ष देश का भी यही विचार होना चाहिए। यही रवैया होना चाहिए। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि धर्मनिरपेक्ष देश में धर्मान्तरण की प्रवृत्ति पर रोक लगानी चाहिए। अपने-अपने धर्म के प्रचार की इजाजत सब को भले ही दी गयी हो, किसी भी धर्म के किसी भी आदमी को अपने धर्म में लाने की इजाजत किसी को नहीं मिलनी चाहिए।

पर इस देश में धर्मान्तरण का यह सवाल इतना सरल नहीं रहा है। दूसरे कई परिणाम उससे संलग्न हुए हैं। धर्मान्तरण यहाँ पहले भी होते थे, आज भी होते हैं। पर क्या कोई मुसलमान अपना धर्म छोड़कर इस देश में ईसाई बना है या कोई ईसाई मुसलमान बनता नजर आया है ? यहाँ सिर्फ हिन्दू ही या तो मुसलमान बनते हैं या

ईसाई बनते हैं। हिन्दू समाज के कौन से स्तर के लोग धर्मान्तरण का सहारा लेकर मुसलमान या ईसाई बनते हैं ? जरा गहराई से सोचेंगे तो स्पष्ट रूप से मालूम होगा, सवर्ण हिन्दुओं ने जिन्हें दुत्कार कर अपने से दूर रखा—या मनुष्य होते हुए भी जिन्हें मनुष्य की तरह जीने नहीं दिया, वे ही हिन्दू समाज छोड़कर दूसरे धर्म अपनाते आये हैं। जब तक हिन्दू समाज जातपाँत का अन्याय जड़मूल से उखाड़ फेंक नहीं देता, धर्मान्तरण की प्रवृत्ति रोकना मुश्किल है। कानूनन धर्मान्तरण पर रोक लगाना तो उससे भी अधिक मुश्किल है।

कितनी बड़ी क्रान्ति की प्रतीक्षा हिन्दू समाज कर रहा है!

99

अँग्रेजी के पक्षधर कितने असंगत तर्क पेश करते हैं!

कहते हैं, 'अँग्रेजी दुनिया की सबसे बड़ी भाषा है।' इनकी दुनिया कितनी बड़ी है, मालूम नहीं। पर ज्यादा से ज्यादा लोग बोलते हैं, इस अर्थ में वह बड़ी है, यह उनका ख्याल हो तो कहना चाहिए यह सम्मान चीनी भाषा को मिलना चाहिए। क्योंकि चीनी बोलनेवाले दुनिया में 116.7 करोड़ लोग हैं जबकि अँग्रेजी बोलने वाले 47.8 करोड़ हैं।

कहते हैं यह ज्ञान-विज्ञान तकनीकी ज्ञान की भाषा है। ज्ञान-विज्ञान, टेक्नॉलॉजी क्या अँग्रेजी में ही है। रूसी भाषा में नहीं है? फ्रेंच, जर्मन, जापानी, चीनी भाषाओं में नहीं है? अँग्रेजी में यह ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी ज्ञान कब से उपलब्ध हुआ है? तीन सौ साल पहले तो नहीं था। ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी ज्ञान हमारी भाषा में होना चाहिए, जब से यह लोगों को महसूस हुआ तब से वह आना शुरू हुआ। आज भी लगातार चलता आ रहा है। हम भी यह पुरुषार्थ कर सकते थे। हम बूढ़े हो गये हैं इसलिए कर न सके।

अँग्रेजी ने ही हमें बूढ़ा बना दिया है।

कहते हैं, 'अँग्रेजी के जरिये हम सारी दुनिया से सम्पर्क साध सकते हैं।' देश के बाहर की दुनिया तो दरकिनार, देश के अन्दर जो एक बहुत बड़ी दुनिया है, अँग्रेजी न जानने वालों की, कम-से-कम उससे सम्पर्क साध सकते हैं क्या? कबीर, दादू, रैदास, तुकाराम, श्रीरामकृष्ण पूरे भारत में छा गये हैं। बीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े आध्यात्मिक पुरुष श्री अरविन्द और जे. कृष्णमूर्ति अपने ही देश में कितने लोगों के पास पहुँच सके हैं? अँग्रेजी माध्यम ने इन्हें मध्यम वर्ग के निकम्मे लोगों तक ही सीमित रखा है। वे देश को कतई प्रभावित नहीं कर सके।

देश के बाहर? यूरोप में इंग्लैण्ड को छोड़कर कहीं पर भी अँग्रेजी से सम्पर्क नहीं साधा जा सकता। एशिया में चीन और जापान में मैं हो आया हूँ। मुझे दुभाषियों की मदद लेनी पड़ी है। और दुभाषिये वहाँ दुनिया की सभी भाषाओं के हैं। पुर्तगाली के भी मुझे मिले हैं। सभी भाषाओं का अध्ययन इन देशों में होता है। पर उनका प्रशासन उनकी अपनी भाषाओं में ही चलता है। और प्रशासन चूँकि अपनी भाषाओं में चलता है इसलिए नीचे से लेकर ऊपर तक की शिक्षा अपनी ही भाषाओं में दी जाती है। अँग्रेजी दुनिया की बड़ी भाषा है, ज्ञान-विज्ञान तकनीकी ज्ञान की भाषा है, एकता की भाषा है—कहकर किसी भी स्वाभिमानी देश ने अपनी भाषा छोड़कर अँग्रेजी नहीं अपनायी है। स्वराज्य से पहले हम गुलाम थे। स्वराज्य के अर्द्धशती से ज्यादा के बाद भी हम गुलाम बने हुए हैं। अँग्रेजी हमारी गुलामी की भाषा है।

1815 में जर्मनी आजाद हुआ। बिस्मार्क के हाथ में देश आते ही, उन्होंने दूसरे ही दिन एक अध्यादेश जारी किया—'कल से देश का सारा कारोबार जर्मन भाषा में चलेगा। जो यह भाषा नहीं जानते, एक साल के अन्दर सीख लें। वरना, कुर्सियाँ खाली कर दें।'

गाँधीजी ने कहा था, मुझे केवल एक दिन के लिए तानाशाह बना दें, मैं प्रशासन से उसी दिन अँग्रेजी को हटा दूँगा। और देशी भाषाओं को वहाँ प्रस्थापित करूँगा। देशी भाषाओं के अलावा देश में और एक भाषा चलेगी—हिन्दुस्तानी, जो सभी भाषाओं को एक-दूसरे से गूँथने का काम करेगी। उन्होंने एक भारी गलती की। उन्होंने हिन्दी नहीं कहा, हिन्दुस्तानी कहा। हिन्दुस्तानी उर्दू से जुड़ी थी। हिन्दी वालों को उर्दू को परास्त करना था। उन्होंने दक्षिण भारतीय नेताओं से समझौता किया—'दस साल तक अँग्रेजी रहेगी। हम आप पर हिन्दी नहीं लादेंगे। उर्दू को परास्त करने में आप हमारी मदद कीजिए।'

उन्होंने मदद की। उर्दू के साथ हिन्दुस्तानी भी परास्त हुई। और अब—

दस साल ब्रह्मा के साल जैसे मालूम होने लगे हैं। न अँग्रेजी जाती है, न देशी भाषाओं के हाथ में प्रशासन आता है। हिन्दी वाले सन्तुष्ट हैं। क्योंकि उनकी भाषा के सिर पर राजमुकुट चढ़ा है। राजदण्ड भले ही अँग्रेजी के हाथ में रहा हो।

100

एक जमाने में एक से अधिक विवाह करना वैध भी था, समाजसम्मत भी था। कई राजा-महाराजाओं की सात-आठ रानियाँ होती थीं। और यह किसी को अनुचित नहीं लगता था। उन्हीं की देखा-देखी कई धनवान भी एक से अधिक विवाह करते थे और

इसमें बड़प्पन भी महसूस करते थे।

आज ? एक ही विवाह की मर्यादा हम सबने कबूल कर ली है। कई लोग घर में पत्नी होने पर भी बाहर एक से अधिक स्त्रियों से सम्बन्ध रखते हैं जरूर, पर गुप्त रूप से, खुलेआम नहीं। जहाँ तक सम्भव हो, समाज को इन सम्बन्धों का पता लगने नहीं देते।

समाज में यह मर्यादा अपने आप प्रस्थापित नहीं हुई है। इसे प्रस्थापित करने के लिए सुधारकों की कई पीढ़ियों ने काम किया है। तपस्या की है।

तभी कामवासना का नियमन हो सका है।

इसी तरह क्या अर्थवासना का भी नियमन नहीं किया जा सकेगा ? आज धनवान बनना बड़प्पन का लक्षण माना जाता है। लाखों रुपये कमानेवाला अरबों कमाने की अभिलाषा रखता है। और समाज हमेशा 'यद् यद् आचरति श्रेष्ठः तत् तद् एव इतरः जनः' के नियम से चलता आया है। इसलिए जो गरीब है वह भी धनवान बनने की ही चाह रखता आया है। कितना कमाना चाहिए इसकी कोई निर्धारित सीमा न होने से हर कोई जितना अधिक कमा सके, उतना कमाने की इच्छा रखता है। चूँकि सीधे रास्ते से अधिक कमाना मुश्किल है इसलिए कोई तस्करी करता है, कोई चौकीमारी करता है, कोई रिश्वत लेता है, कोई चोरी करता है, कोई डाके डालता है या कोई राजनीति में कूदकर सत्ता हाथ में लेता है।

आज हमारा पूरा जीवन ही एक तरह का जुआ बन गया है।

मार्क्स ने कहा था, पूँजीवाद की असली प्रेरणा 'प्रॉफिट मोटिव' (लाभाश्रयी) है। यह अगर सही है तो भिखारी को भी पूँजीपति ही कहना चाहिए। भले ही वह निर्धन हो पर पूँजीपतियों की ही तरह वह फायदे की ही सोचता है।

धनवान और निर्धन दोनों की अर्थवासना का नियमन होना चाहिए। महज कानूनन नहीं, संस्कारों से होना चाहिए। धनवान बनना गँवारूपन है, अशिष्ट है, अभद्र है और शादी ब्याह में, रहन-सहन में धन का प्रदर्शन करना तो जंगलीपन की पराकाष्ठा है, ऐसा हर एक को लगना चाहिए।

और अगर धन इकट्ठा हुआ हो तो जैसे दूसरी पत्नी को आदमी छुपाकर रखता है, उसी तरह धन भी छुपाकर रखने की नौबत उस पर आ जाती है।

संस्कारों से ही यह मर्यादा स्थापित की जा सकती है।

101

मालूम नहीं, हिप्पी लोग क्या निर्माण करना चाहते हैं। कुछ नया तो वे अवश्य ही

निर्माण कर रहे हैं। पर वह क्या है, शायद वे खुद नहीं जानते। इतना तो स्पष्ट है कि आधुनिक सभ्यता के प्रति उनके मन में नफरत है। उनकी नजर में यह पाखण्डी, दम्भी, मिथ्याचारी सभ्यता है। मानती कुछ है और उसके ठीक विपरीत करती है। इस सभ्यता में उनका दम घुटता है इसलिए उसे छोड़कर वे उससे अलग हो गये हैं। वे आवारा नहीं हैं। उनमें तीन सम्प्रदायों के लक्षण दिखाई देते हैं। वे साधु सम्प्रदाय के मालूम होते हैं, संन्यासी भी हैं और विद्रोही भी हैं। आज उनका रवैया भले ही नकारात्मक जैसा लगे। पर सम्भव है, यह उनकी कथा का पहला ही अध्याय हो।

एसिसी का फ्रांसिस इन्हीं की तरह अपने समाज से अलग हो गया था। वह धनी परिवार में पैदा हुआ था। वैभव में जी रहा था। पर इस वैभव में उसका दम घुटने लगा। वह विद्रोह में खड़ा हुआ। पिताजी ने पूछा, ''यह तुम क्या कर रहे हो ?'' जवाब में फ्रांसिस ने अपने कपड़े उतार दिये और पिताजी के मुँह पर फेंककर (बिलकुल हिप्पियों की तरह) वह घर का त्याग करके चला गया। पर ईसाई परम्परा में उसने एक भव्य नया भक्तिपन्थ अन्त में निर्माण किया ही न ? खुद एक बड़ा सन्त बना।

रोमन साम्राज्य के अन्तिम वर्षों में लोगों को ईसाई हरमिट्स ऐसे ही हिप्पियों के जैसे मालूम होते थे। लोगों ने उन्हें तरह-तरह से बदनाम किया था। दुत्कारा था। पर अन्त में आधुनिक यूरोप उन्होंने ही बनाया न!

चीन में शुरू-शुरू में बौद्ध भिक्षुओं को देखकर ताओ सम्प्रदाय के नेता चौंक गये थे। अपने सम्राट के पास जाकर उन्होंने इन पर रोक लगाने की माँग की थी। कहा था—समाज में किसी भी यमनियम का यह लोग पालन नहीं करते, कोई काम नहीं करते, और सबसे घिनौनी बात तो यह है कि वे भिक्षा माँगकर खाते हैं। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को देश के बाहर निकाल देने की बात की थी। सम्राट खुद बौद्ध था इसलिए बौद्ध भिक्षु बच गये। पर चीन को संस्कारित करने का काम आखिर इन भिक्षुओं ने किया ही न!

सम्भव है, हिप्पी भी इन्हीं की तरह दुनिया को कोई नयी दीक्षा देना चाहते हों। इनको समझने की भरसक कोशिश करनी चाहिए। ये वाहियात लोग नहीं हैं। बड़े-बड़े विद्वान इनमें मैंने देखे हैं।

102

इस बार की कश्मीर-यात्रा में सबसे महत्त्व की बात जो मेरे ध्यान में आयी, वह यह थी कि कश्मीरी भाषा में 'कुरान' का तर्जुमा नहीं है। अब तक किसी ने किया ही नहीं है।

''तो यहाँ के मुसलमान किस भाषा में कुरान पढ़ते हैं?'' मैंने पूछा।

''उर्दू में।'' मुझे जवाब मिला।

मैंने मन ही मन कहा, तब तो कश्मीर को भारत के साथ रखना बड़ा मुश्किल है। रहा तो भी यहाँ के मुसलमानों का झुकाव हमेशा भारत से ज्यादा पाकिस्तान की ओर ही रहनेवाला है। इन लोगों को पाकिस्तान से जोड़नेवाली कड़ी इस्लाम नहीं, बल्कि उर्दू भाषा है, जो उनकी नहीं है। कश्मीरी मुसलमानों को कश्मीरी में कुरान का तर्जुमा मिलना चाहिए। हदीस का मिलना चाहिए। कश्मीर का राजकारोबार कश्मीरी में चलना चाहिए। बच्चों की पढ़ाई कश्मीरी में होनी चाहिए। कश्मीर की अपनी निजी सूफी परम्परा है। ललद्यद के संस्कारों में इन लोगों की परवरिश हुई है। यह परम्परा टूटनी नहीं चाहिए। उसे पोषण मिलते रहना चाहिए। इन लोगों का कश्मीरी भाषा के प्रति प्रेम जगाना चाहिए। बढ़ाना चाहिए। उनकी 'अस्मिता' जाग्रत करनी चाहिए।

राजा राममोहन राय ने बंगाल में अपना सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन का काम शुरू किया, तब सबसे पहले उन्होंने 'कुरान' का तर्जुमा बांग्ला भाषा में करवा लिया। अरबी भाषा में निपुण उनके सेन नाम के एक मित्र थे। उनसे उन्होंने कहा, ''यह काम तुम्हारा है। कोलकाता में कई मुसलमान कुरान के जानकार हैं। उनकी मदद लो। उनका समर्थन प्राप्त करो। मंजूरी लो। पर मुझे कुरान का तर्जुमा बंगाली भाषा में चाहिए। सेन बाबू ने यह काम जानकारों की मदद से पूरा किया। बंगाली मुसलमान बड़े सम्मान के साथ उन्हें 'मौलाना सेन' कहते थे। कुरान के बाद हदीस वगैरह सारी मुस्लिम धर्म पुस्तकें बांग्ला भाषा में लायी गयीं। तब से लेकर आज तक बंगाली मुसलमान कुरान का यही तर्जुमा पढ़ते आये हैं। इसी तर्जुमे ने बंगाली मुसलमानों को बंगाली अस्मिता प्रदान की है। पाकिस्तान ने बंगाली मुसलमानों पर उर्दू थोपने की कोशिश की, तब सारे मुसलमान केवल उर्दू के विरोध में नहीं, बल्कि पाकिस्तान के विरोध में भी बगावत में खड़े हुए थे।

भाषा संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज करने से बड़ी नहीं होती। उसका समाज-विज्ञान समझना चाहिए और इस समाज-विज्ञान के नियमों को लेकर उसका विकास करना चाहिए।

और कश्मीर में तो कश्मीरी भाषा सामरिक महत्त्व भी रखती है।

पर—

राजा राममोहन राय की दूरदृष्टि आज के हमारे नेताओं में कहाँ से आएगी? वे तो हमारे ही कद के बौने लोग हैं।

स्त्रियों के बारे में शायद ही किसी के मुँह से अच्छे उद्‌गार निकले हैं।

बुद्ध भी अपवाद नहीं हैं।

वे जब सारी दुनिया को अपने धर्म की दीक्षा देते घूमते थे, उन्होंने प्रजापति को वह नहीं दी। बेचारी प्रजापति ने दो बार मिन्नत की। पर बुद्ध नहीं माने। आखिर जब आनन्द ने उनसे पूछा, ''तो क्या इसका मतलब यह है कि स्त्रियों को निर्वाण का अधिकार नहीं है?'' बुद्ध ने कहा, ''नहीं, ऐसा तो नहीं है।'' ''तो फिर प्रजापति को आप दीक्षा क्यों नहीं देते?'' आनन्द ने पूछा। बुद्ध के पास जवाब नहीं था। उन्होंने दीक्षा दी। पर आनन्द से यह कह ही दिया—''तथागत का यह धर्मविचार कम से कम एक हजार साल चलता। अब यह केवल पाँच सौ साल ही चलेगा।''

पुर्तगाली लेखक ज्यूलियु दान्तश् की एक कथा, 'स्त्री जाति का इन्साफ' नाम की है—

एक बार ईश्वर ने अपने दूत को बुलाकर कहा, ''जाओ, जहन्नुम में कयामत के दिन के इन्तजार में जो बैठे हैं सबको ले आओ। स्त्रियों के बारे में उन्होंने मुझे बहुत कुछ बताया था। वह सब अब दुबारा सुनना चाहता हूँ। मैं आज एक महत्त्व का फैसला सुनाना चाहता हूँ।''

दूत जहन्नुम के दरवाजे खोलकर सबको बुला लाया। सब आये। उनमें कई पोप थे, कई बिशप, कई सन्त, कई महात्मा, कई दार्शनिक, कवि, साहित्यकार (यानी जिन लोगों ने योरप बनाया है वे सब) आ गये। हर एक ने स्त्रियों के बारे में अपनी-अपनी राय ईश्वर को सुनायी । क़िसी ने कहा, स्त्री नरक की खान है। दूसरे ने कहा, वह साँप से भी जहरीली है। किसी का कहना था, स्त्रियों के बाल जितने लम्बे होते हैं, उतनी छोटी उनकी बुद्धि होती है। कोई और बोला, वह झगड़ालू है। एक और ने कहा, वह पतिव्रता का सिर्फ नकाब पहनती है, असल में वह हमेशा बेवफा ही रही है।

ईश्वर ने सोचा, अगर वह इतनी खराब है तो उसे जीवित क्यों रहने देना चाहिए। उसे खत्म ही कर देना अच्छा है।

अचानक दूत के ध्यान में एक बात आयी। उसने कहा, ''आपने एक व्यक्ति की राय अब तक नहीं पूछी।''

''किसकी?''

''अपने बेटे की (ईसा की)।''

बेटा बगल में ही पीछे की ओर खड़ा था, ईश्वर ने उससे पूछा, ''तुमने सब सुना न?''

''जी पिताजी!''

''तुम्हारी राय क्या है ?''

''ये लोग एक बात भूल ही गये कि इनकी एक माँ भी थी।'' बेटे ने जवाब दिया।

बस इस एक 'माँ' शब्द ने ईश्वर का फैसला ही बदल डाला। तब से लेकर इस धरती पर स्त्री माँ के तौर पर ईश्वर की सबसे बढ़िया कृति के रूप में विचर रही है।

104

'सेवा' का नाम लेते ही हम लोगों को जिन सेवा क्षेत्रों का स्मरण हो आता है वह अकसर गरीबों को दान देना, बीमारों की तीमारदारी करना, इसी तरह के होते हैं। एक व्यक्तिगत सद्‌गुण के रूप में इस तरह की सेवा की स्तुति भले होती हो। पर जब इस सद्‌गुण का संस्थाकरण (Institutionalisation) होता है तब वह चिन्ता का विषय बन जाता है।

बीमारों की तीमारदारी करने से बीमारी दूर नहीं होती, वैसे ही दान देने से गरीबों की गरीबी दूर नहीं होती। दान देनेवालों को और उनकी सेवा करनेवालों को 'गरीबों के लिए हम कुछ कर रहे हैं' इस एक सन्तोष के अलावा कुछ नहीं मिलता। यह एक तरह का निर्वीर्य सन्तोष है। जिसके कारण समाज में गरीब निर्मित होते हैं वह अर्थव्यवस्था ही तोड़कर नयी खड़ी करना, गरीबी नष्ट करने का सही उपाय है। हमारा सेवाकार्य इस तरह चलना चाहिए कि खुद गरीबों में 'हम गरीब हर्गिज नहीं रहेंगे, अपना शोषण कभी किसी को करने नहीं देंगे', यह कहने की हिम्मत आनी चाहिए।

पर दुनियाभर में गरीबों के लिए जो सेवाकार्य चलते रहे हैं, उनमें गरीबों को गरीबी के विरोध में खड़े करने की ताकत नहीं है। फिर चाहे वह मदर टेरेसा का सेवाकार्य हो, श्रीरामकृष्ण मिशन का हो या सत्य साँईबाबा का हो। क्योंकि गरीब ईश्वर निर्मित हैं, गरीब हमेशा दुनिया में रहे हैं, हमेशा रहेंगे, यह खयाल उनके पीछे है। उनकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है, धर्म है। इसी श्रद्धा से वे चलते हैं।

इस सेवा से किसको क्या मिलता है? सेवा करनेवाले को सन्तोष। बस, यही एक जवाब हम दे सकते हैं। यह सन्तोष अधिक से अधिक प्रमाण में मिले इसीलिए तो मदर टेरेसा ने अधिक से अधिक गरीब जहाँ हैं, वैसा देश अपने सेवाकार्य के लिए

चुन लिया था। गरीबी नष्ट की जा सकती है, यह मदर टेरेसा जानती नहीं थीं। क्योंकि जिस धर्म-परम्परा में उनकी परवरिश हुई थी, वह दो हजार साल पुरानी है। वह गरीबी को ईश्वर निर्मित ही मानती आयी है।

पर क्या ईश्वर इतना निष्ठुर है ? उसकी सृष्टि में करोड़ों तरह के जीव हैं। क्या इनमें से कोई कभी खाने को कुछ नहीं मिला, कहकर भूखा मरा है ? ईश्वर की प्रकृति सबके गुजर-बसर के लिए रोज कुछ न कुछ निर्माण करती ही आयी है। एक मामूली चींटी भी कभी भूखी नहीं मरी उसकी सृष्टि में। सिर्फ मनुष्यों में ही यह गरीब और मालदार का भेदभाव क्यों है ?

तॉलस्तॉय ईसाई ही थे। पर जब कोई गरीबी को ईश्वर निर्मित कहता सुनते थे तब गुस्से के मारे उछल पड़ते थे, ''साले, तुम जो गरीबों की पीठ पर चढ़कर बैठे हो, पहले नीचे उतरो...तुम्हारी सेवा की उन्हें कोई जरूरत नहीं है। वे खुद अपनी सेवा कर लेंगे।'' गाँधी भी तॉलस्तॉय के रास्ते चलते थे। उन्होंने उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया में विकेन्द्रीकरण का तत्त्व दाखिल करके ऐसी एक समाज व्यवस्था खड़ी करने का स्वप्न देखा था जो शोषणमुक्त हो। उनका पूरा रचनात्मक कार्यक्रम इसी उद्देश्य से चलता आया था। 'कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्' यही अगर उनका उद्देश्य होता तो वे अन्नसत्र चलाते, अस्पताल चलाते; खादी ग्रामोद्योग लेकर न बैठते। खैर—

आज जो दुनिया में सेवाकार्य चल रहे हैं, समाज जैसा चलता आया है वैसे ही चलते रहने देनेवाले हैं। पर इनकी बहुत—हद से ज्यादा—स्तुति होती है। क्यों ? क्योंकि स्तुति करनेवाले यह अच्छी तरह जानते हैं कि गरीबी नष्ट करने की ताकत न उनमें है, न सरकार में। और गरीबी नष्ट न हुई तो गरीब कब विद्रोह में खड़े हो जाएँ, बताना मुश्किल है। इसलिए गरीबों की निरन्तर 'सेवा' होती रहनी चाहिए। सेवा करनेवालों को सेवा की प्रेरणा मिलनी चाहिए। और उन्हें प्रेरणा देने के लिए मदर टेरेसा रही हैं। देखो, कितनी स्तुति होती है उनकी दुनिया में ! उनकी गरीबों की सेवा के लिए उन्हें नोबेल पारितोषिक मिला, वे सन्त भी मान ली गयी हैं।

यानी आज का विद्रोह कल के लिए मुल्तबी रखने का यह उपाय है पर—
लाख कोशिश करने पर भी वह मुल्तवी रहनेवाला नहीं है।

105

पुर्तगाल अब वह नहीं रहा जिसके खिलाफ हम लड़ रहे थे। उसने अपने सारे

उपनिवेश आजाद कर दिये हैं। सालजार का नामोनिशान भी मिटा दिया है। आज का पुर्तगाल बिलकुल नया पुर्तगाल है।

पर उसका राष्ट्रगीत ? अपनी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं को घोषित करनेवाला वही पुराना 'इरॉयश दु मार' चलने दिया है। नये पुर्तगाल को यह राष्ट्रगीत बिलकुल शोभा नहीं देता।

इंग्लैण्ड भी अब पुराना इंग्लैण्ड नहीं रहा है। जिसके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था, उसके सभी उपनिवेश अब उसके चंगुल से छूट गये हैं। आज का इंग्लैण्ड बिलकुल नया इंग्लैण्ड है। पर राष्ट्रगीत ? वही—'अपने शत्रुओं को तितर-बितर कर डालो, उनकी राजनीति अस्तव्यस्त कर दो, उनके कुटिल दाँवपेंच विफल कर दो'—Scatter her enemies, confound their politics, frustrate their knavish tricks करके ईश्वर से माँगनेवाला अनाड़ी God save the king राष्ट्रगीत रहने दिया है।

हमारे दो राष्ट्रगीत हैं। उनमें से एक 'वन्देमातरम्' पुराना हो गया है। देश की स्तुति को छोड़कर उसमें खास कुछ नहीं है। पर हमारे स्वतन्त्रता संग्राम में हजारों लोगों ने 'वन्देमातरम्' गाते-गाते लाठियाँ झेली थीं, गोलियाँ खायी थीं। फाँसी के तख्ते पर कइयों ने अपने प्राण न्यौछावर किये थे। उनके त्याग और बलिदान का इतिहास इसके पीछे है। इसलिए हमने वह चलाया है। दूसरे 'जनगणमन' का स्वीकार हमने इसलिए नहीं किया क्योंकि वह रवीन्द्रनाथ का है, बल्कि इसलिए किया क्योंकि स्वतन्त्रता संग्राम के हमारे एक नरशार्दूल सुभाष बाबू ने उसको प्रथम बार जर्मनी में 'फ्री इण्डिया लीग' के लिए और बाद में दक्षिण पूर्व एशिया में 'आजाद हिन्द फौज' के लिए राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार किया था। सुभाष बाबू के स्मरण में हमने उनकी दो चीजें ली हैं—एक उनकी 'जयहिन्द' घोषणा और दूसरा, यह 'जनगणमन' राष्ट्रगीत।

पर वह पूरा गाना चाहिए।

इन दो के अलावा और गीत की नये भारत को आवश्यकता है। उसका विश्वगीत के रूप में स्वीकार हो। आज दुनिया भी पहले की जैसी नहीं रही है। 'यत्र विश्वं भवति एकनीडम्' का आदर्श आज महज आदर्श नहीं रहा, बल्कि एक हकीकत बन गयी है। इसके अनुरूप यह विश्वगीत होना चाहिए, जिसमें हमारा 'मिशन' स्पष्ट हो। रवीन्द्रनाथ का 'चित्त जेथा भयशून्य' ऐसा ही एक गीत है। कितना भव्य मिशन उन्होंने हमारे सामने रखा है!

मेरे देश में अब कोई अन्ध सत्ता और स्वार्थी अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाएगा। कोई किसी के सिर पर या किसी के पाँव तले जाकर नहीं बैठेगा। मेरे देश में ज्ञान की उपासना को किसी तरह की रुकावट नहीं होगी। निर्मल जल की तरह

वह बहता रहेगा। कोई भी उसके किनारे आकर ज्ञान का आकण्ठ पान कर सकेगा। मेरे देश में मानव-मानव के बीच जाति, धर्म, वंश, सम्प्रदाय किसी तरह की दीवारें नहीं रहेंगी। सभी एक-दूसरे के नजदीक आएँगे। मेरे देश में सत्य बोलने में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं करेगा। जरूरत पड़ने पर कटु सत्य भी बोलेगा। उसे किसी तरह की सजा नहीं होगी। मेरे देश में स्वच्छ विचारों का प्रवाह अर्थशून्य आचारों के रेगिस्तान में जाकर सूख नहीं जाएगा। हे भगवान! स्वतन्त्रता के स्वर्ग में मेरे देशवासी अपनी आँखें खोलें। (Into that heaven of freedom let my country awake.)

रवीन्द्रनाथ को यों ही लोग विश्वकवि नहीं कहते थे। वे विश्वमानव थे। उनका यह विश्वगीत पहले हम अपना लें। बाद में 'युनो' के मार्फत दुनिया के सभी देशों को अपनाने की सिफारिश करें।

अन्त में

ऐसे चिन्तन की पुस्तक कभी पूरी नहीं होती। क्योंकि चिन्तन जीवन का उपफल है, और जबतक लेखक का जीवन जारी है, तबतक उसका चिन्तन निरन्तर चलता रहता है। मगर वाक्य के अन्त में पूर्णविराम आना चाहिए, वैसे ही चिन्तन की पुस्तक भी कहीं न कहीं रुक जानी चाहिए। बर्नार्ड शॉ ने अपनी एक पुस्तक 'टु बी कण्टीन्यूड बाई देम दैट कैन' कहकर छोड़ दी थी। मैं भी यही करना चाहता हूँ। पूर्वजों ने कहा है—'महाजनो येन गतः सः पन्थाः।' मेरे इन चिन्तनों से पाठक सहमत हों, ऐसी उम्मीद मैं नहीं करता। पर वह पाठकों को अपने स्वतन्त्र चिन्तन के लिए उत्तेजित कर सके तो उनके हृदय के तार के साथ अपने हृदय के तार जोड़ने की इच्छा मैं अवश्य रखूँगा। किसी ने कहा है—भाई तो दैवयोग से मिलते हैं। मगर मित्र तो हृदय बना देता है।

और मैत्री को मैं जीवन की सबसे बड़ी पूँजी मानता हूँ।

□□

रवीन्द्र केलेकर

जन्म : 7 मार्च 1925।

छात्र-जीवन में ही गोवा मुक्ति आन्दोलन में सहभागिता। केलेकर के ही शब्दों में,'मैं असल में एक 'फाइटर' हूँ। मुझमें जो 'राइटर' दिखाई देता है वह उसी का प्रतिफल है।' कोंकणी साहित्यपरिषद् के पूर्व अध्यक्ष,गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान की कार्यकारिणी के सदस्य, गाँधी आश्रम नागालैण्ड के न्यासी तथा केन्द्रीय साहित्य अकादेमी के सदस्य रहे।

प्रकाशन : कोंकणी में 'उजवाढाचे सूर', 'समिधा', 'सांगली', 'ब्रह्मांढातलें तांडव', 'ओथांबे', 'सर्जकाची आंतरकथा', 'कामोरेर', 'तथागत' आदि लगभग 25 पुस्तकें। मराठी में 'कोंकणीचें राजकरण', 'जपान जसा दिसला'आदि तीन पुस्तकें तथा हिन्दी एवं गुजराती में भी कुछेक पुस्तकें प्रकाशित। गाँधी और काका कालेलकर की अनेक पुस्तकों का सम्पादन-अनुवाद।

सम्मान-पुरस्कार : गोवा कला अकादेमी का साहित्य पुरस्कार (1974), साहित्य अकादेमी पुरस्कार (1977), स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार (1990), कोंकणी साहित्यरत्न पुरस्कार (1994), गोवा राज्य सांस्कृतिक पुरस्कार, गोवा कला अकादेमी का सर्वोच्च गोमंत शारदा पुरस्कार (1997), उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य संस्थान का सौहार्द पुरस्कार (1999)आदि से सम्मानित।

भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003
संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन